स्वास्थ्य की स्थानीय परंपराएं

एक परिचय

स्वास्थ्य की स्थानीय परंपराएं : एक परिचय

ए.वी. बालसुब्रमणियन्
एवं
वैद्य एम. राधिका

हिंदी रूपांतर :
पं. माधवाचार्य
एवं
डा. नरेन्द्र मेहरोत्रा

चित्राँकन – नटेश एवं अली कौसर

लोस्वापसंस मोनोग्राफ नं. १

अगस्त १९९१

लोस्वापसंस मोनोग्राफ नं. १	**स्वास्थ्य की स्थानीय परंपराएं : एक परिचय**
प्रकाशन तिथि	अगस्त १९९१
मूल्य	४० रु. प्रति (लोस्वापसंस के सदस्यों के लिए ३५ रु. मात्र)
प्रतियां प्राप्त करने के लिए	आवश्यक धन का मनीआर्डर, चेक या ड्राफ्ट **"लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति, लखनऊ"** के नाम से निम्न पते पर भेजें :

लोक स्वास्थ्य परम्परा संवर्धन समिति
ई-III/२५०, सेक्टर एच, अलीगंज
लखनऊ २२६०२०

लखनऊ से बाहर के चेकों में कृपया १० रु. बैंक कमीशन के अवश्य जोड़ दें। यदि आप लोस्वापसंस सदस्यता की छूट चाहते हैं तो कृपया अपनी सदस्यता संख्या अवश्य लिखें। पुस्तक रजिस्ट्री से मंगाने के लिए ५ रु. अधिक भेजें।

कापार्ट के अनुदान से साभार प्रकाशित
(काउंसिल फॉर ऐड्वांसमेंट ऑफ पीपुल्स ऐक्शन ऐंड रूरल टेक्नालाजी)

संपादकीय सहायक - वै. उमेश चंद्र शर्मा

विषयानुक्रमणिका

	प्राक्कथन	(i)
	दो शब्द	(ii)
	लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति	(iii)
प्रथम अध्याय	प्रस्तावना	१
द्वितीय अध्याय	स्थानीय स्वास्थ्य परंपराएं–संभावना और विस्तार	४
तृतीय अध्याय	देसी चिकित्सा पद्धतियों का वैज्ञानिक आधार	५८
चतुर्थ अध्याय	वर्तमान काल में स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं की प्रासंगिकता और संभावनाएं	८४
परिशिष्ट प्रथम	प्राविधिक शब्द–संग्रह	९३
परिशिष्ट द्वितीय	आयुर्वेद के आकर ग्रंथ	९६
	संदर्भ	९८

प्राक्कथन

प्रस्तुत महानिबंध लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति द्वारा लोक स्वास्थ्य परंपराओं (स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं) से संबद्ध विषयवस्तु पर प्रकाशित की जानेवाली महानिबंध श्रृंखला की पहली कड़ी है। इसका उद्देश्य विविध स्थानीय परंपराओं में अंतर्निहित वैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रतिपादन है। इन महानिबंधों से एक ओर तो स्थानीय स्वाथ्य परंपराओं के वैज्ञानिक आधार की बेहतर समझ, उनमें से कौन सी ठीक-ठाक है, कौन अधूरी हैं और कौन विकृत है, इस प्रकार के मूल्यांकन द्वारा स्थानीय स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन करने की अपेक्षा की जाती है। दूसरी ओर, सामुदायिक स्वास्थ्य कर्मियों तथा चिकित्सीय एवं आधुनिक प्रशिक्षण प्राप्त पराचिकित्सीय व्यावसायिकों को स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं को समझने एवं परखने में भी इनसे सहायता मिलेगी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ये महानिबंध अंग्रेजी एवं हिंदी भाषाओं में प्रकाशित कराये जा रहे हैं।

इस महानिबंध की रचना में सतत सहायता एवं परामर्श के लिए मैं वेंकटरमण आयुर्वेदिक कालेज, मद्रास के वैद्य शिरोमणि के.एस. विश्वनाथ शर्मा का आभारी हूं। इस महानिबंध के अनेक प्रालेखों को टंकलेखित करने के लिए मैं श्री श्रीधरन् का तथा इसके संपादक एवं प्रकाशन के निमित्त कंप्यूटर संबंधी समस्त कार्यों में सहायता प्रदान करने के लिए आइ.आइ.टी., मद्रास के प्रोफेसर अशोक झुनझुनवाला को धन्यवाद देता हूं। हम काउंसिल फॉर ऐड्वांसमेंट ऑफ पीपुल्स ऐक्शन ऐंड रूरल टेक्नालाजी (कापार्ट) की "लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन" परियोजना के अंतर्गत वित्तीय सहायता की प्राप्ति स्वीकार करते हैं, जिसके कारण इस महानिबंध का प्रकाशन संभव हो सका। हम अपने समस्त पाठकों से इसके अगले संस्करण में सुधार हेतु परामर्श एवं टीका-टिप्पणी आमंत्रित करते हैं।

जून १९८९
मद्रास

ए.वी. बालसुब्रमणियन्
संपादक

दो शब्द

स्वास्थ्य की स्थानीय परंपराओं को देशी चिकित्सा की शास्त्रीय पद्धतियों जैसे आयुर्वेद, सिद्ध, यूनानी आदि के परिप्रेक्ष्य में समझने और समझाने का प्रयास करना भी लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन परंपराओं का तकनीकी विश्लेषण कर प्रबंध तैयार करने का बीड़ा हमारे मद्रास स्थित समूह ने उठाया। यह स्वाभाविक था कि हमारे मद्रास स्थित समूह पी.पी.एस.टी. फाउंडेशन के लिए ऐसे प्रबंध अंग्रेजी में तैयार करना न केवल सरल था वरन् देश विदेश के प्रबुद्ध वैज्ञानिक समुदायों तक अपनी बात पहुंचाने के लिए अंग्रेजी भाषा में बनाए गए प्रबंध लाभकारी भी होते, जैसा बाद में सिद्ध भी हुआ। परंतु विषय के महत्व और उसके मूल स्वरूप को प्रस्तुत करना तो संभवतः भारतीय भाषाओं में ही सर्वोत्तम रहेगा, यह भान समिति को सदैव से ही था अतः उन्हें हिंदी भाषा में छापने का निर्णय भी शुरू से ही लिया जा चुका था।

अलबत्ता कतिपय कारणों से इन प्रबंधों का हिंदी रूपांतर तैयार करने में देरी अवश्य हुई जिसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हमने इन प्रबंधों के हिंदी संस्करणों को कम महत्व दिया है। हमें आशा है कि आगे आने वाले प्रबंधों के हिंदी संस्करण यथासमय हमारे पाठकों को मिलते रहेंगें। हमारी यह अपेक्षा कि हिंदी भाषा में प्रस्तुत किए जाने वाले यह प्रबंध देश के एक बड़े भाग में इन विषयों पर एक लाभकारी चर्चा का सूत्रपात करने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकेंगे, हमारे पाठकों के सहयोग से शीघ्र ही पूरी होसकेगी।

लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति
उत्तर क्षेत्रीय कार्यालय
द्वारा, युवा वैज्ञानिक अकादेमी
ई-III/२५०, सेक्टर एच, अलीगंज,
लखनऊ - २२६ ०२०

पं. माधवाचार्य
डा. नरेन्द्र मेहरोत्रा
संपादक, हिंदी रूपांत

लोस्वापसंस क्या है ?

लोस्वापसंस स्वास्थ्य रक्षा की राष्ट्रव्यापी देशी पद्धतियों और लोक स्वास्थ्य परंपराओं के पुनरुज्जीवन के लिए प्रतिबद्ध व्यक्तियों, वर्गों एवं संस्थाओं का एक नेटवर्क है। भारतीय समाज में विद्यमान लोकस्वास्थ्य परंपराओं का पुनर्निर्माण एवं इस प्रक्रिया में प्राथमिक स्वास्थ्य रक्षा के परंपरागत आत्मनिर्भर स्वरूप का पुनरुज्जीवन समिति का प्रधान उद्देश्य है।

पृष्ठभूमि

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि हमारे देश में, जनजातियों के क्षेत्र में एवं अन्यत्र भी, स्थानीय स्वास्थ्य रक्षा की अनगिनत लोक परंपराएं सर्वत्र विद्यमान हैं। इनमें से अनेक परंपराएं आयुर्वेद, यूनानी और सिद्ध जैसी भारतीय स्वास्थ्य पद्धतियों के प्रकाश में मूल्यांकन करने पर शास्त्रसंगत सिद्ध होती है। लाखों ग्राम्य चिकित्सक, दाइयां और गृहिणियां इन परंपराओं की वाहक हैं। ये परंपरागत प्रयोग मौलिक स्वास्थ्य के अनेक अंगों, जैसे जच्चा-बच्चा स्वास्थ्य रक्षा, खाद्य और पोषाहार, सामान्य रोगों के उपचार तथा घरेलू उपचार से संबद्ध हैं। कुछ समुदायों में हड्डियां बैठाने की, विष-चिकित्सा की, कतिपय चिरकालिक व्याधियों के उपचार की तथा नाड़ी परीक्षा जैसी नैदानिक विधियों की विशिष्ट परंपराएं चली आ रही हैं।

यह एक तथ्य है कि आज ये परंपराएं इनमें निहित प्रबल संभावनाओं के बावजूद दुर्बल स्थिति में है। पर हमारा यह विश्वास है कि आयुर्वेद, यूनानी और सिद्ध जैसी स्थापित भारतीय चिकित्सा पद्धतियों से इन परंपराओं के तालमेल को प्रोत्साहित करके इन परंपराओं को नवजीवन प्रदान किया जा सकता है। इन लोक स्वास्थ्य परंपराओं और देशी विज्ञानों में अन्योन्याश्रय संबंध होने के कारण इस प्रकार के तालमेल से एक ओर लोक स्वास्थ्य परंपराओं की शक्ति बढ़ेगी और दूसरी ओर इन पद्धतियों के सिद्धान्तों को, जिन्हें बृहत्तर भारतीय समाज से पुनः सम्पर्क साधना है, नया बल मिलेगा। इसी सोच को लेकर दिसम्बर १९८५ में, जब सम्पूर्ण भारत की तीस से अधिक संस्थाएं और अनेक व्यक्ति महाराष्ट्र के कशेले गांव में अपने

अनुभवों को आदान-प्रदान करने के लिए एकत्र हुए तो एक नेटवर्क के रूप में लोस्वापसंस की स्थापना की गयी।

समिति के उद्देश्य

- देश में विद्यमान लोक स्वास्थ्य परंपराओं के सर्वेक्षण और अभिलेखन का काम सम्पन्न कराना।
- प्रशिक्षण, अनुसंधान एवं अभिलेखन केन्द्रों की स्थापना करना।
- लोक-चिकित्सकों के लिए छात्रवृत्तियां तथा अध्ययन एवं यात्रा अनुदान की व्यवस्था करना।
- देशी स्वास्थ्य वैज्ञानिकों को तथा संवर्धन कार्य में अंशदान कर सकने वाले अन्य व्यक्तियों तथा समूहों का एक सक्रिय नेटवर्क तैयार करना।
- नीति विषयक अध्ययन को संचालित एवं प्रोत्साहित करना तथा उसके आधार पर सभी सम्बद्ध लोगों को परामर्श देना और उन परामर्शों के क्रियान्वयन के लिए प्रयास करना।
- औषधीय वनस्पतिशालाओं, उद्यानों और वनों की स्थापना करना तथा विभिन्न व्यक्तियों, संस्थाओं और स्थानीय निकायों आदि के सहयोग से उनका संवर्धन करना।
- लोक स्वास्थ्य परम्पराओं को समाविष्ट करने वाले देशी स्वास्थ्य विज्ञान से सम्बन्धित वैज्ञानिक शिक्षण सामग्री का अभिकल्पन, प्रचार-प्रसार तथा प्रोन्नति एवं इस प्रकार की सामग्री को स्कूलों, कालेजों तथा अन्य शिक्षा संस्थाओं के पाठ्य क्रमों में समाविष्ट कराने के लिए प्रयत्न करना।
- इस क्षेत्र में होने वाले कार्यों का मूल्यांकन करने, सूचनाओं के प्रचार-प्रसार तथा अनुभवों के आदान-प्रदान के लिए सम्मेलनों, प्रदर्शनियों तथा कार्यशालाओं आदि का आयोजन करना।

संपर्क का पता :

सचिव:

लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति

पो. बाक्स ७१०२, कोयंबतूर - ६४१०४५

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना

भारत सहित अनेक गैर-पश्चिमी समाजों में आजकल दो ऐसी चिकित्सा-पद्धतियां प्रचलित हैं, जो एक दूसरे से नितांत भिन्न हैं। इनमें से एक है परंपरागत या देसी पद्धति और दूसरी आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति (पा.चि.प.) है, जिसका पदार्पण औपनिवेशिक काल में हुआ। इन सभी देशों में पा.चि.प. २०% से भी कम लोगों को स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध करा पाती है, यद्यपि इन देशों के स्वास्थ्य बजट का अधिकांश भाग उसे प्राप्त होता है। पिछले एक सौ से भी अधिक वर्षों से आज तक की स्थिति भारत में यही है कि पा.चि.प. आबादी के एक छोटे से हिस्से की ही सेवा कर पा रही है।

विगत दस वर्षों में स्वास्थ्य रक्षा की पारंपरिक पद्धतियों पर ध्यान देने की बातें बहुत हुई हैं। १९७६ में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने, विशेष रूप से दूर-दूराज के ग्रामीण अंचलों में, स्वास्थ्य सुविधाओं के विस्तारण में परंपरागत चिकित्सा की भूमिका पर ध्यान दिया। १९७७ में उसने अपने प्रस्ताव द्वारा (देखें डब्ल्यू. एच. ओ. ३०.४९) सदस्य सरकारों से आग्रह किया कि वे "समुचित कानून बनाकर अपनी परंपरागत चिकित्सा पद्धतियों के उपयोग को उचित महत्व दें।"

स्थानीय स्वास्थ्य परंपराएं

यह एक दिलचस्प बात है कि भारतीय चिकित्सा पद्धतियां (भा.चि.प.) आयुर्वेद, यूनानी या सिद्ध महाविद्यालयों में प्रशिक्षित वैद्यों, हकीमों आदि के अतिरिक्त आज भी व्यापक रूप से फैली लोक स्वास्थ्य परंपराओं यानी स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं में जीवित हैं। इनमें बड़ी विविधता, व्यापकता और बहुगुणता है। इसमें स्वास्थ्य-कर्मियों का एक बहुत बड़ा वर्ग आ जाता है; वह गृहस्वामिनी या नानी-दादी, जो गृह उपचार के प्रयोग में दक्ष है, वे दाइयां, जो प्रसूति कराती हैं,

भारत के विभिन्न प्रांतों में अलग-अलग नामों से प्रसिद्ध स्थानीय, जनजातीय या लोक चिकित्सा-कर्मी (महाराष्ट्र के वैदू, तमिलनाडू के वैध्यन, सिक्किम के धामी आदि), वे चंद परिवार, जो किसी एक खास रोग की सफल चिकित्सा करते आ रहे हैं, वे चिकित्सा-कर्मी ,जो हड्डियां बैठाने अथवा विष चिकित्सा के क्षेत्र में प्रवीण हैं, सब इस वर्ग में सम्मिलित हैं। "चिकित्सा" की श्रेणी में आनेवाले उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त ऐसी बहुत सी परंपराएं भी हैं, जो हमारे दैनिक जीवन का अंग बन गयी हैं और इनसे हमें अपने स्वास्थ्य के परिरक्षण में मदद मिलती है। इनमें विभिन्न खाद्य पदार्थों के गुण, भिन्न-भिन्न ऋतुओं और व्याधित अवस्थाओं में पथ्यापथ्य-विचार आदि से लेकर यदा-कदा उपवास, खेल-कूद और व्यायाम, सामान्य स्वास्थ्य रक्षा के लिए योगाभ्यास, ऋतुओं के साथ-साथ आहार और जीवन-शैली में परिवर्तन आदि सांस्कृतिक आचरण को गिनाया जा सकता हैं।

हमारे पूर्वाग्रह और भ्रांतियां

परंतु ऐसी स्थानीय परंपराओं के व्यापक प्रचलन के बावजूद अनेक समाज, जिनमें हमारा अपना समाज भी सम्मिलित है, अपने को एक असमंजस में पाते हैं। यह समाज की अपनी देन है। इसमें जिन लोगों ने केवल संकीर्ण शैक्षणिक प्रशिक्षण प्राप्त किया है उनके मन में ऐसे आचरणों को लेकर अनेक पूर्वाग्रह और भ्रांतियां हैं। स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं के विषय में हमारे मन में उठने वाले कुछ प्रश्न और टिप्पणियां निम्नवत् हैं :-

* चूंकि ये औषध शीघ्र एवं तत्काल राहत नहीं देते, अतः आज के संदर्भ में ये अप्रासंगिक हैं।
* ये चिकित्सा कार्य गुप्त रखे जाते थे और इनके बारे में बहुत कम ही लोग जानते हैं, और इसीलिए ये मिट गये।
* इन प्रथाओं के जनसमर्थन में ह्रास एक प्राकृतिक घटना है, जिसके द्वारा आधुनिक चिकित्सा पद्धति ने, जो अपने आप में श्रेष्ठ है, प्राचीनतर पद्धति का स्थान ले लिया।
* ये प्रथाएं तर्क संगत और वैज्ञानिक नहीं हैं, बल्कि अनुभूत तथ्यों, धार्मिक विश्वासों और अंधविश्वासों के विचित्र मिश्रण से बनी हैं।

इस प्रबंध का उद्देश्य

हमारा विश्वास है कि आज बिना पूर्वाग्रहों और भ्रांतियों के इस विषय के समस्त तथ्यों की छानबीन करने की आवश्यकता है, ताकि हमारे मन-मस्तिष्क के बहुत सारे मकड़जाल साफ हो सकें। इस प्रबंध का उद्देश्य पाठक को निम्न बातों से परिचित कराना है :-

* हमारे समाज में प्रचलित लोक स्वास्थ्य परंपराओं की सीमा और विस्तार
* स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं तथा संगठित देसी चिकित्सा पद्धतियों का परस्पर संबंध
* इन परंपराओं के अंतर्निहित वैज्ञानिक आधार, और
* इनकी प्रासंगिकता और संभावनाएं

द्वितीय अध्याय

स्थानीय स्वास्थ्य परंपराएं–संभावना और विस्तार

जैसा कि हम पहले कह चुके है, इस प्रबंध का मुख्य उद्देश्य हमारे देश में बहुप्रचलित स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं के समग्र वर्णक्रम को पाठक के समक्ष उद्घाटित कर देना है। वे कुछ क्षेत्र, जिनमें हम स्थानीय परंपराओं की समीक्षा करेंगे निम्न हैं :–

* सामान्य रोगों से मुक्ति के घरेलू उपाय और उपचार
* आहार संबंधी ज्ञान और धारणाएं
* स्वास्थ्य विषयक लोक–साहित्य (अर्थात् स्वास्थ्य संबंधी लोकोक्तियां व किंवदंतियां)
* वे व्यक्ति/परिवार जो किसी एक व्याधि विशेष की चिकित्सा में प्रवीण हैं
* नैदानिक प्रक्रियाओं का ज्ञान
* रोग निरोधक उपाय का ज्ञान
* ऋतुचर्या अथवा मौसम के अनुसार अपने आहार–विहार को ढालना
* योग और अन्य शारीरिक संवर्धन के अभ्यास
* हड्डी बैठाना, मर्म चिकित्सा, विष चिकित्सा आदि चिकित्सा के विशेष क्षेत्र।

स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं और भारतीय चिकित्सा पद्धतियों में संबंध

बहरहाल, हम जब भी स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं (स्था.स्वा.प.) की ओर

देखने का प्रयास करते हैं, यह प्रश्न उठे बगैर नहीं रहता कि क्या ये पद्धतियां निर्दोष, तर्कसंगत और वैज्ञानिक है ? अतः इस खंड में हमने केवल परंपराओं का वर्णन ही नहीं किया है, बल्कि भा.चि.प. अर्थात् आयुर्वेद, यूनानी और सिद्ध चिकित्सा पद्धतियों के वैज्ञानिक सिद्धांतों के प्रकाश में उन्हें समझने और उनके मूल्यांकन करने का भी यथासंभव प्रयत्न किया है। हमारी सम्मति में स्था.स्वा.प. और भा.चि.प. में परस्परावलंबन है और दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अर्थात् एक ओर तो स्था.स्वा.प. भिन्न-भिन्न संदर्भों में भा.चि.प. के मौलिक सिद्धातों और भा.चि.प. की प्रज्ञा को लागू करके स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के समाधान का प्रयत्न करती प्रतीत होती हैं और दूसरी ओर भा.चि.प. के शास्त्रीय वैज्ञानिक ग्रंथ स्था.स्वा.प. में अंतर्निहित वैज्ञानिक सिद्धातों के व्यवस्थित एवं संगठित प्रस्तुति मात्र लगते हैं। ये दोनों, दो भिन्न स्तरों पर एक ही आधारभूत अंतर्निहित गमन मार्ग की अभिव्यक्ति करती हुई अभिन्न लगती हैं।

अब यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या भा.चि.प. वैज्ञानिक मानी जा सकती हैं और क्या वे "विज्ञान" की कठोर कसौटी पर खरी उतरने की क्षमता रखती हैं ? तृतीय अध्याय में हम इस विषय पर और विस्तृत चर्चा करेंगे। फिलहाल इस अध्याय में हम भा.चि.प. के प्रकाश में स्था.स्वा.प. के मूल्यांकन की ओर बढ़ते हैं। यद्यपि भा.चि.प. में आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, योग आदि अनेक पद्धतियां हैं, परंतु सुविधा की दृष्टि से अधिकांश मूल्यांकनों के आधार आयुर्वेद के सिद्धांत रखे गये हैं।

सामान्य व्याधियों के उपचार और घरेलू उपाय

हम अत्यंत सामान्य स्तर के चिकित्सा ज्ञान से, अर्थात् सामान्य रोगों के उपचार और प्रचलित उपायों के विवेचन से प्रारंभ करते हैं। उद्धत उदाहरण भारत के विभिन्न भागों के सर्वेक्षण से, शहरी, देहाती, जन-जातीय और गैर-जनजातीय क्षेत्रों से प्राप्त सूचनाओं से लिये गये हैं। आगे हमने व्याधियों/अवस्थाओं के कतिपय सेट दिये हैं और प्रत्येक के प्रचलित स्थानीय उपचार का उल्लेख करके उसमें अंतर्निहित आयुर्वेदीय सिद्धांत को उजागर करने का प्रयत्न किया है। इसलिए हमें अपरिहार्य रूप से आयुर्वेद के तकनीकी शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है।*

** पुस्तक के अंत में पारिभाषिक शब्दों की एक सूची दी गई है जिसमें उनका सरल विवेचन दिया है।*

रोग/अवस्था : *अतिसार (दस्त)*

उपाय : (क) सब्जियों से परहेज करना और खाने में केवल मट्ठा और भात लेना।

तर्काधार : (क) अतिसार के रोगियों की जठराग्नि सामान्य नहीं होती और उसका मंद होना संभव है। पचने में गुरु या भारी होने के कारण सब्जियां मना हैं। तक्र–भात खाने का परामर्श तक्र (मट्ठा) के दीपन (भूख या पाचकाग्नि बढ़ाने के गुण) और कषाय रस के कारण दिया गया है। कषाय रस अतिसार का नियंत्रण करने में सहायक होता है। अष्टांगहृदय में कहा गया है –

तक्रं लघु कषायाम्लं दीपनं कफवातजित्। (सूत्रस्थान, अध्याय ५, श्लोक ३३) अर्थात् मट्ठा पचने में हल्का, स्वाद में कसैला–खट्टा और भूख बढ़ाने वाला है, तथा कफ और वात को नियंत्रित रखता है।

उपचार: (ख) लशुन–क्षीर पाक अर्थात् दूध में उबाल कर पकाया हुआ लहसुन रोगी को खिलाते है (तमिलनाडु मातृ शिशु स्वास्थ्य सर्वेक्षण [१] में सूचित)।

तर्काधार:(ख) जिन रोगियों का अतिसार आम (विषम अथवा अधूरे पाचन से उत्पन्न) के कारण है, उनके लिए लशुन–क्षीर पाक एक अच्छे आम पाचन द्रव्य (वह पदार्थ जो आम का पाचन करे) का काम करता है। भाव प्रकाश निघंटु (हरीतक्यादि वर्ग, श्लोक २२२) में कहा गया है–

रसोनो बृंहणो वृष्यो स्निग्धोष्णो पाचनः सरः।
रसे पाके च कटुकस्तीक्ष्णोष्णो मधुरो मतः।।

अर्थात् लहसुन पौष्टिक, कामोत्तेजक, स्निग्ध, उष्ण, पाचक और पेट साफ करता है तथा रस और पाक (हजम होने पर) में कटु, तीक्ष्ण–उष्ण और मधुर है।

स्वास्थ्य पद्धतियों की तुलना कैसे करें ?

कोई यह कैसे निश्चित करे कि दो स्वास्थ्य परिचर्या पद्धतियां या गमन-पथ वस्तुतः एक है, एक दूसरे से भिन्न है या आपस में सम्बद्ध हैं ?

यद्यपि सभी चिकित्सा पद्धतियों का उद्देश्य स्वास्थ्य संरक्षण और रोगों को दूर करना होने के नाते वस्तुतः एक ही है, परंतु उनके गमन-पथों में भारी अंतर है। भारतीय परंपरा के अनुसार दो पद्धतियों की तुलना करने के लिए हमें दोनों के प्रमाण, प्रमेय और सिद्धांतों की जांच करनी होगी। प्रमेय वैध ज्ञान के किसी विषय को संदर्भित करता है। उक्त वैध ज्ञान जिन साधनों या उपकरणों से प्राप्त किया जाता है वे प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण आयुर्वेद को मान्य है) कहलाते हैं। किसी पद्धति के आधारभूत नियमों और मूलतत्वों को सिद्धांत कहते हैं। हम दो पद्धतियों अथवा गमन-पथों को देश, काल, ज्ञान अथवा द्रव्य की उपयोग विधि में स्थानीय परिवर्तन के आधार पर एक दूसरे से भिन्न नहीं ठहरा सकते। अन्यथा फिर तो आयुर्वेद की अनेक पद्धतियां-चरक पद्धति, सुश्रुत पद्धति हो जायेंगी और आधुनिक चिकित्सा की भी अनेक पद्धतियां हो जायेंगी। पद्धतियों में अंतर्निहित आधारभूत सिद्धांत और स्वास्थ्य की मंजिल तक उनके पहुंच के रास्ते ही निर्णय लेने के आधार बन सकते हैं।

स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं और देसी चिकित्सा पद्धतियों के आपसी संबंधों को हम इसी आधार पर जांचते-परखते हैं। सोदाहरण समझाने के लिए इस मोनोग्राफ में अधिकांश दृष्टांतों की तुलना आयुर्वेद से की गयी है। इस पद्धति के अंतर्निहित कुछ मौलिक सिद्धांत निम्न हैः-

- पंचमहाभूत सिद्धांत-संसार के सभी द्रव्य पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से निर्मित हैं।
- त्रिदोष सिद्धांत-रोग, रोग-हेतु और रोग-निवारण का सिद्धांत।
- द्रव्यगुणविचार-गुण, कर्म, रस, वीर्य, आदि शब्दावली में औषध द्रव्यों (अथवा समस्त द्रव्यों) की प्रकृति को समझना।

रोग/अवस्था : *सिरदर्द*

उपचार: (क) भृंगराज की छोटी-छोटी कलियों को तिल के तेल में पीस कर माथे पर लेप करते हैं और दो घंटे बाद नहाते हैं (तमिलनाडु के कोयंबटूर जिले की जनजातियों में प्रचलित [२])।

तर्काधार: (क) भृंगराज को वेदनास्थापन (पीड़ाहर औषधि) बताया गया है अतः दर्द में राहत प्रदान करने में यह सहायक हो सकता है। भावप्रकाश निघंटु (गुडूच्यादि वर्ग, २ श्लोक २४२) का कहना है-

'दन्त्यो रसायनो बल्यः कुष्ठनेत्र शिरोऽर्तिनुत्

अर्थात् भृंगराज दांतों के लिए हितकर, कायाकल्प करनेवाला, बलदायक और चर्मरोग तथा आंखों और सिर के रोगों को दूर करनेवाला है।

उपचार : (ख) आधा शीशी दर्द और सूर्यावर्त वेदना (सूर्य के उदय और अस्त होने के साथ-साथ दर्द के बढ़ने-घटने) में नित्य प्रातः जलेबी खाना और भोजन में उड़द की दाल की मात्रा बढ़ाना और लगाने के मरहम का उपयोग (वाराणसी के आस-पास के क्षेत्रों से सूचित [३])।

तर्काधार: (ख) वातज शिरोरोगों में चरक ने उड़द की दाल का प्रयोग इंगित किया है। अष्टांगहृदय (उत्तरस्थान, अध्याय २४, श्लोक २) में कहा गया है-

'माषान् कुलत्थान् मुदगान् वा क्षीरेण सह पाययेत्।'

अर्थात् दूध के साथ उड़द, कुलथी या मूंग पिलायें। साथ ही गुरु एवं स्निग्ध आहार देने का निर्देश भी है।

रोग/ अवस्था : *बवासीर*

उपचार : नीम के तेल में प्याज को पीसकर मस्सों पर लगाते हैं (उत्तर प्रदेश के भोक्साजाति में प्रचलित [४])।

तर्काधार : चरक ने बवासीर में प्याज (संस्कृतनाम पलांडु) लेने का निर्देश दिया है। चरक संहिता (चिकित्सा स्थान, अध्याय १४ वां, श्लोक २०८) में कहा गया है–

"रसकदायुष यवागुसंयोगतः केवलोऽथवा जयति, रक्तमतिवर्तमानं वातं च पलांडुयुक्तः "

अर्थात् बवासीर के इलाज के लिए दलिये के साथ या अकेले ही प्याज का सेवन करना चाहिए। इसका प्रयोग विशेष रूप से रक्त और वात के प्रकुपित होने की दशा में करना चाहिए और संक्रमण की स्थिति में क्रिमिहर होने के कारण नीम उपयोगी है।

रोग / अवस्था : *पेट का दर्द*

उपचार : (क) शिलाजीत, त्रिफला, नींबू का रस, लोहे के कण, बरगद की गोंद और मूली का स्वरस एकत्र मिलाकर ४० दिनों तक रख दिया जाता है तदनंतर इन्हें पानी के साथ पीसकर छोटी–छोटी गोलियां बना ली जाती हैं और पेट के दर्द में दिन में दो बार लिया जाता है (वाराणसी के आस–पास के क्षेत्रों से सूचित [३]।

तर्काधार : (क) उपर्युक्त योग क्रिमि के कारण पेट दर्द होने पर विशेष रूप से उपादेय हो सकता है क्योंकि शिलाजीत उदरक्रिमि का नाशक है और शरीर को शीतलता प्रदान करता है। भाव प्रकाश निघंटु में कहा गया है–

"अपस्मारं ततोन्मादं शोथकुष्ठोदरक्रिमीन् "

(धात्वादिवर्ग, श्लोक ८२)

अर्थात् शिलाजीत मिर्गी और अन्य मानसिक व्याधियों, सूजन, चर्मरोगों और पेट के कीड़ों में उपयोगी है। बरगद का दूध भी क्रिमिघ्न है। इस योग में लोहे के चूर्ण का प्रयोग रक्ताल्पता दूर करने के लिए है, जो उदरक्रिमि के मरीजों में प्रायः देखने को मिलती है।

उपचार : (ख) काला नमक (बिड लवणं) तथा हींग लेते हैं (वाराणसी के

इर्द-गिर्द से सूचित [३])।

तर्काधार: (ख) काला नमक दीपन तथा पाचन (भूख और हाजमा बढ़ाने वाला) है। भावप्रकाश निघंटु में कहा गया है–

दीपनं लघु तीक्ष्णोष्णं रूक्षं रुच्यं व्यवायिच।

विबंधानाह विष्टंभ..हृद् गौरवम्

(हरीतक्यादि वर्ग, श्लोक २४७)

बिड लवण जठराग्नि सुधार कर पाचन में सहायता करता है, व्यवायी होने से शीघ्र फैलता और जल्दी काम करता है साथ ही शरीर का भारीपन और दर्द दूर करता है। यह शूलप्रशमन (मरोड़रोधी) का भी काम करता है।

रोग/अवस्था : *विषाक्तता*

उपचार: (क) सर्प दंश के रोगियों को बाह्य औषध लेप के अतिरिक्त १५०–२५० ग्राम देशी घी पिलाया जाता है (वाराणसी के इर्द–गिर्द के देहाती इलाकों से सूचित [३])।

तर्काधार: (क) आयुर्वेद के आचार्यों का कथन है कि जहां सांप के विष की कोई दवा उपलब्ध न हो, वहां घृतपान यानी घी पिलाने से बढ़कर कोई इलाज नहीं है। अष्टांग हृदय में कहा गया है–

'पबेत् घृतं, घृतक्षौद्रमगदं वा घृतप्लुतं, हृदयावणे चास्य श्लेष्मा हृदपर्धायते।'

(उत्तरस्थान, अध्याय ३६, श्लोक ५४)

अर्थात् ऐसी स्थिति में घी या शहद को अन्य दवाओं के साथ या अकेले पीना चाहिए क्योंकि यह हृदय पर रक्षा कवच का काम करता है।

उपचार: (ख) एक बर्तन में आग लेकर उसमें बेर की पत्तियां और हल्दी डालते हैं। इससे निकलने वाले धुएं को बिच्छू के डंक के मरीज को सुंघाते हैं

(वाराणसी के इर्द-गिर्द के ग्रामीण क्षेत्रों से सूचित [३])।

तर्काधार: (ख) बिच्छू के काटने पर जीभ में सूजन, बुखार, ज्ञानेंद्रियों की शक्ति में ह्रास, पसीना, गश आना, मुंह का सूखना आदि लक्षण प्रकट होते हैं। उक्त धुआं उत्तेजक है और बेर पित्तशामक एवं प्यास दूर करने वाला है। भावप्रकाशनिघंटु में कहा गया है-

'भेद्याग्निकृत्सव लघु तृष्णाक्लमास्रजित्'

(हरीतक्यादि वर्ग, श्लोक ७७)

अर्थात् बेर अग्नि और रस तथा रक्त के गुणों में सुधार करता है और रक्त विकार और थकान मिटाता है।

उपचार: (ग) विषाक्तता की स्थिति में दो केंचुओं को पानी में पीसकर पिलाते हैं, जिससे उल्टियां होती हैं (वाराणसी के इर्द-गिर्द के ग्रामीण अंचलों से सूचित [३])।

तर्काधार: (ग) विषाक्तता की स्थितियों में विशेष रूप से कफ को

दूषित करने वाले विषों की विषाक्तता में, शास्त्रों ने वमन कराने का निर्देश दिया है। इसके अतिरिक्त वमन से आमाशय या पेट की धुलाई भी हो जाती है। सुश्रुतसंहिता में कहा गया है–

'प्रायो हि वमनेनैव सुखं निर्हियते विषम् '

(कल्पस्थान, अ.५, श्लोक १९)

अर्थात् अक्सर वमन से ही विष सरलतापूर्वक दूर हो जाता है।

रोग / अवस्था : *नेत्र रोग*

उपचार: (क) ठंडे पानी में सुखाया हुआ धनिया डालकर घोल तैयार करते हैं और आयी हुई आंख में सोने से पहले इस घोल की केवल एक बूंद डालते हैं (हरियाणा के गांवों की दाइयों में प्रचलित [५])।

तर्काधार: (क) भावप्रकाश निघंटु (हरीतक्यादि वर्ग, श्लोक ८७–८८) में धनिया को मधुर रसवाला, ग्राही (कब्ज पैदा करने वाला), जलन और क्रिमि दूर करनेवाला बताया गया है तथा उसे नेत्राभिष्यंद और नेत्रव्रण में सुझाया गया है।

उपचार : (ख) दारुहरिद्रा (बेरबेरिस अरिस्टैटा) की पत्तियों से बनाये गये घोल की एक बूंद में मां का दूध मिलाकर आप्थैल्मिया नियोनैटोरम (नवजात शिशुओं के आंख दुखने में) के बीमार बच्चों की आंखों में ३–४ दिनों तक डाला जाता है (हरियाणा की दाइयों के उपचार के रूप में सूचित [५])।

तर्काधार : (ख) धन्वन्तरि निघंटु में दारुहरिद्रा के विषय में–*'तिक्ता दारुहरिद्रा स्यात् रूक्षोष्णव्रणेहजित्। कर्णनेत्रमुखोदभूतं रुजं कण्डूं च नाशयेत् '* (गुडच्यादि वर्ग, श्लोक ५९) कहा गया है, अर्थात् दारुहरिद्रा कड़वी, शुष्क और गरम है, घाव और मधुमेह को और आंख, कान और मुंह के दर्द और खुजली को मिटाती है। मां का दूध भी आंखों के लिए अच्छा है। भावप्रकाशनिघंटु के अनुसार–

'चक्षुशूलाभिघातघ्ना नस्याश्च्योतनयोर्वरम्। '(दुग्ध वर्ग, श्लोक ३३) नारी दुग्ध आंखों के दर्द और चोट को दूर करता है तथा नसवार और आंखों में टपकाने

के लिए अच्छा है।

रोग / अवस्था : *सर्दी और खांसी*

उपचार : अड़ूसा की पत्तियां पानी में उबालकर पिलाते हैं। मुलेठी के काढ़े का भी प्रयोग किया जाता है (वाराणसी के इर्द-गिर्द के ग्रामीण क्षेत्रों से सूचित [३])

तर्काधार: अड़ूसा (वासा) और मुलेठी (मधुयष्टि) दोनों ही सर्दी-खांसी में इंगित हैं।

रोग / अवस्था : *कामला (पीलिया)*

उपचार: पुनर्नवा की जड़ को पानी में पीसकर पिलाया जाता है।

तर्काधार: शास्त्रों में कामला को पाण्डुरोग की दूसरी अवस्था बताया गया है। यह पित्त और रक्त के दूषित होने के कारण होता है। पुनर्नवा पांडुरोगहर है, साथ ही पित्त रक्त का नाश करने वाली भी। भाव प्रकाश निघंटु में कहा गया है-

'कटुः कषायरसा पाण्डुहरा...वातला ग्राहिणी श्लेष्मापित्तरक्तविनाशिनी।'

(गुडूच्यादि वर्ग, श्लोक २३१ और २३३)

अर्थात् यह स्वाद में तीखी और कसैली है, पांडुरोग दूर करती है, भूख बढ़ाती है... वात को बढ़ाती है, स्तंभक है और कफ, पित और रक्त का नियंत्रण करती है।

रोग / अवस्था : *नाड़ी मंदता*

उपचार: (क) अजवायन, हींग, सरसों का तेल और धतूरे की पत्तियों का स्वरस मिलाकर गरम करके रोगी के पूरे बदन पर उसकी मालिश करनी चाहिए।

तर्काधार : (क) प्रयुक्त सभी द्रव्य लघु, उष्ण और उत्तेजक हैं। हारीतसंहिता में सरसों के तेल को, कड़वा, स्तंभक और कफ तथा वात को नियंत्रित करनेवाला बताया गया है-

'कलिर्तिक्ता तथा ग्राही स्यात्कफवातनुत् '

(प्रथम स्थान, तैल वर्ग)

ग्राही यानी स्तंभक होने के कारण यह वाहिका संकोचन करके रक्तचाप बढ़ाती है।

उपचार:(ख) ताजे अदरक के रस में मधु मिलाकर रोगी को पिलाते हैं (वाराणसी के ग्रामीण अंचल में प्रयुक्त [३])।

तर्काधार:(ख) भावप्रकाशनिघंटु (हरीतक्यादि वर्ग, श्लोक ५१–५२) में ताजे अदरक को तीक्ष्ण, उष्ण और आग्नेयगुणभूयिष्ठ बताया गया है अर्थात् यह तीखा, गरम और अग्नि के गुणों से भरपूर है। इन गुणों के कारण यह शीघ्र काम करता

है। शहद को भावप्रकाश निघंटु (मधुवर्ग, श्लोक २-३) में ठंडक प्रदान करनेवाला, हल्का, रूखा और स्वाद में मीठा और कसैला बताया गया है-

'मधु शीतं लघु स्वादु रूक्षं ग्राही विलेखनम् ।

सूक्ष्मं परं स्रोतोविशोधनं कषायानुरंस '

घावों और स्रोतसों को साफ भी करने वाला होने के कारण यह ज्यादा प्रभावी हो जाता है। स्रोतोविशोधनगुण (स्रोतसों की सफाई करने के गुण) के कारण यह नाड़ी मंदता में लाभकारी है। स्रोतोरोध (स्रोतों का अवरोध) विषम रक्त संचार और मृत्यु तक का कारण हो सकता है।

रोग / अवस्था : *जलना*

उपचार : घृतकुमारी की पत्तियों में पाये जानेवाले मांसल, लसदार अवलेह में शक्कर मिलाकर जले हुए अंगों पर लेप करते हैं।

तर्काधार : शीतलता प्रदान करनेवाली होने से कुमारी जलने पर उपयोगी है। भावप्रकाश निघंटु (गुडूच्यादिवर्ग, श्लोक २३०) में इसे *'ज्वरहरी हरेत् ग्रन्थ्यग्निदग्धविस्फोटपित्तरक्तत्वगामयान् '* कहा गया है, अर्थात् यह ज्वर, जलन, घाव और पित्त रक्त तथा समस्त चर्मरोगों को मिटाती है।

रोग / अवस्था : *कान का दर्द*

उपचार : मानकंद (एलोकेसिया इंडिका) के स्वरस में पानी मिलाकर उसे पतला कर लेते हैं और फिर स्राव और दर्द के अनुसार २-३ बूंद कानों में डालते हैं [हरियाणा के ग्रामीण अंचलों की दाइयों द्वारा व्यवहृत (५)]

तर्काधार: भावप्रकाश निघंटु (*शाकवर्ग, श्लोक १०६*) में मानकंद को '*शोथहृच्छीतोरक्तपित्तहरो लघुः* 'कहा गया है, अर्थात् मानकंद सूजन उतारनेवाला, शीतलता प्रदान करनेवाला और रक्तस्राव बंद करनेवाला है और अतः कर्णशोथ की स्थिति में उपयोगी है।

उपचार: (ख) हल्दी, गंधक, सरसों का तेल और धतूरे का स्वरस इनका गाढ़ा तरल मिश्रण तैयार करते हैं। इस मिश्रण की एक बूंद से कान का दर्द ठीक किया जाता है (हरियाणा की गांवों की दाइयों का बताया प्रयोग [५])।

तर्काधार : (ख) भावप्रकाश निघंटु (हरीतक्यादि वर्ग, श्लोक १९६-१९७) के अनुसार हल्दी क्रिमिघ्न (अतः संक्रमणरोधी) है और शोथ तथा व्रण ठीक करती है। इसी ग्रंथ (*गुडूच्यादि वर्ग, श्लोक ८६-८७*) में धतूरे को "*उष्णोगुरुव्रणश्लेष्माकंदो क्रिमिविषापहः*" कहा गया है अर्थात् यह उष्ण और भारी है तथा घाव, संक्रमण, खुजली, विषाक्तता और कफ के अतिरेक को अच्छा करता है। हल्दी और धतूरा दोनों ही कान के संक्रमण और सूजन में उपयोगी है। गंधक को भावप्रकाशनिघंटु (*धात्वादि वर्ग, श्लोक १११*) में "*जन्तुकण्डुविसर्पजित*" कहा गया है, अर्थात् यह खुजली, संक्रमण और चेहरे की सूजन को अच्छा करता है। इस प्रकार यह मिश्रण कान के संक्रमण अथवा शोथ से उत्पन्न दर्द में लाभ करता है।

आहार, उसके गुण तथा प्रभाव संबंधी मान्यताएं

निरोग और रुग्ण अवस्थाओं में मनुष्य के शरीर पर आहार के प्रभाव तथा बढ़ते बच्चों, गर्भवती और दूध पिलाती मांओं आदि की आहार संबंधी विशेष

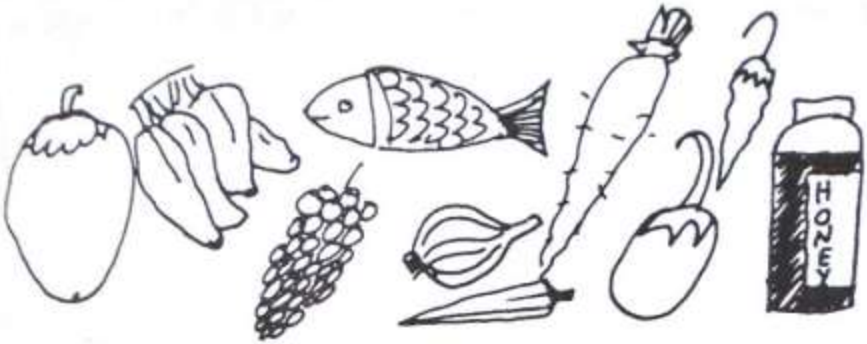

आवश्यकताओं के विषय में गहरी जानकारी आम तौर पर पायी जाती है।

संक्षेप में, उपचार के विषय में यह धारणा आम है कि इसके तीन अंग–आहार, विहार और औषधि हैं। नीचे विभिन्न खाद्यों के स्थानीय रूप से अनुभूत गुणों का वर्णन करके भा.चि.प. के शास्त्रोक्त वर्णन से उनकी संगति मिलायी गयी है। ये पंजाब और तमिलनाडु में किये गये दो अलग–अलग सर्वेक्षणों पर आधारित हैं [६,७]।

पंजाब : स्थानीय मान्यताएं

मूंग की दाल (मुद्गः)–कुछ–कुछ ठंडा, नम और हल्का। पाचन तंत्र और रक्त निर्माण के लिए अच्छा।

करेला (कारवेल्लक)–गरम, रूखा और भारी। खून की सफाई और मधुमेह, लकवा, गठिया और गुर्दो की बीमारियों के लिए अच्छा। पेट की गड़बड़ियों और बुखार में सीमित उपयोग लाभदायक।

मूली (मूलकम्)–ठंडा, नम और हल्का। बवासीर, पीलिया और यकृत् और प्लीहा की व्याधियों में लाभदायक। पेट की गड़बड़ी और मानसिक व्याधियों में सीमित उपयोग लाभदायक।

केला (कदली)– न ठंडा न गरम और भारी। दूध और शहद के साथ लेने पर रक्तनिर्माण, स्वप्नदोषनिवारण तथा सरल मासिक स्राव के लिए हितकर। सर्दी, खांसी, मधुमेह और दुर्बल पाचन शक्ति वालों के लिए मर्यादित उपयोग अनुमन्य।

अंगूर (द्राक्षा)–न ठंडा न गरम और पचने में हल्का। भूख बढ़ाने, आंखों की रोशनी और रक्तनिर्माण के लिए अच्छा। आमातिसार और अतिसार में मर्यादित उपयोग अनुमन्य।

बेर (बदरम्)– न ठंडा न गरम, पचने में भारी। भूख बढाने, आंखों की रोशनी बढ़ाने और रक्त निर्माण के लिए अच्छा। पेट की बीमारियों तथा सर्दी–खांसी में मर्यादित उपयोग अनुमन्य।

खोपरा (नारिकेलः)–उष्ण, शुष्क और भारी। लिवर (यकृत) और किडनी (वृक्क) की व्याधियों में पथ्य। अतिसार और आमातिसार, सर्दी–खांसी में मर्यादित उपयोग अनुमन्य।

शहद (मधु / क्षौद्रं)–पाचन, आंखों की ज्योति, मसूढ़ों, दांत और त्वचा के लिए हितकर तथा क्षय, कामला और गुर्दे की पथरी के इलाज में सहायक। इसकी अति से बचना चाहिए अन्यथा यह पेट की बीमारयां उत्पन्न कर सकता है।

शास्त्रीय विवरण

भावप्रकाश निघंटु में (धान्यादिवर्ग, श्लोक ३८) में मूंग को रूखी, हल्की, कब्ज करनेवाली, स्वादिष्ट, ठंडी, कफ और पित्त दोषों को दूर करने वाली तथा किंचित् वातवर्धक, मधुर, आंखों के लिए हितकर और ज्वर दूर करनेवाली बताया गया है–

मुद्गो रूक्षो लघुग्राही कफपित्त हरो हिमः।
स्वादुरल्पानिलो नेत्र्यो ज्वरघ्नो वनजतस्था ।।

भावप्रकाश निघंटु (शाकवर्ग, श्लोक ६३–६४) के अनुसार–

कारवेल्लं हिमं भेदी लघुतिक्तमवातलम्।

ज्वर पित्तकफास्रघ्नं पाण्डुमेहक्रिमीन् हरेत्।।

तदगुणा कारवेल्ली स्यात् विशेषाद्दीपनी लघुः।

अर्थात् करेला ठंडा, मृदुविरेचक, हल्का और कड़वा है तथा ज्वर, पित्त, कफ, रक्ताल्पता, मधुमेह और क्रिमियों का नाशक है।

चरकसंहिता (चिकित्सास्थान, अध्याय १४, श्लोक ९३) के अनुसार–

"शुष्कमूलक यूषं वा यूषं कौलत्थमेव वा"

अर्थात् बवासीर की चिकित्सा के लिए सूखी मूली अथवा कुलथी का शोरबा उपयुक्त है।

भावप्रकाश निघंटु (आम्रादिफलवर्ग, श्लोक ३३–३४) के अनुसार–

पक्वं स्वादु हिमं पाके स्वादु वृष्यं च बृंहणम्।

क्षुत्तृणा नेत्रगद हृन्मेहघ्नं रुचिमांसकृत्।।

अर्थात् पका हुआ केला स्वाद में मीठा, शीतलता प्रदान करनेवाला, पाचन होने पर मधुर, वाजीकर, पौष्टिक, भूख–प्यास मिटानेवाला, आंखों के रोग में आरामदायक और हृदयरोगों और मधुमेह में पथ्य है।

भावप्रकाश निघंटु (आम्रादिफलवर्ग, श्लोक ११०–११३) के अनुसार अंगूर आंखों के लिए हितकर, पौष्टिक, (बृंहणी), बेहोशी (संमोह), और दुर्बलता (शोष) का निवारण करनेवाली है।

(आम्रादिफलवर्ग, श्लोक ७५) के अनुसार–

ग्राही रुच्यमानं च वातहृत्

कफपित्तकरं चापि गुरुसारकमीरितम्।

अर्थात बेर ग्राही, भूख बढ़ानेवाला, गरम, भारी और सारक है। यह कफ तथा पित्त को दूषित करता है और वातनाशक है।

भावप्रकाश निघंटु (आम्रादिफलवर्ग, श्लोक ४०) में पूर्ण रूप से पके हुए नारियल के फल को गुरुपित्तकारी विदाही विष्टंभि मता भिषग्भिः'कहा गया है, अर्थात् यह पचने में भारी, पित्त को दूषित करनेवाला और मल-मूत्र को अवरुद्ध करने वाला है।

भावप्रकाश निघंटु में नारियल के पानी को-

तस्याम्भः शीतलं हृद्य दीपनं शुक्रलं लघु।

पिपासा पित्तजित्स्वादु बस्ति शुद्धिकरं परम् ।।

कहा गया है, अर्थात् यह ठंडक पहुंचाने वाला, भूख बढ़ानेवाला, हृदय के लिए हितकर, वीर्यवर्धक, पचने में हल्का, प्यास मिटानेवाला, मूत्राशय का शोधक और पित्त का नियंत्रक है।

भावप्रकाश निघंटु (मधुवर्ग, श्लोक ८) के अनुसार-

'*नेत्रामयहरं लघु। कामलार्शः क्षतश्वासकासक्षयविनाशनम्* 'अर्थात् शहद नेत्ररोग मिटानेवाला, पचने में आसान तथा कामला, अर्श, चोट, सांस की तकलीफ, खांसी और क्षय को मिटानेवाला है।

मद्रास : स्थानीय धारणाएं

दमे की बीमारी में दूध, अंडा, चूजे और बकरे की टांग का शोरबा, मछली और तैलाक्त खाद्य लेने चाहिए।

मछली, दूध, फल, मांस, लहसुन, यकृत् का शोरबा, केकड़ा, मेथी, काला जीरा, विदारी (आइपोमिया डिजिटैटा) आदि स्तन्य अर्थात् दुग्धवर्धक हैं।

पेट के फोड़े में मेथी, चावल, उड़द का दलिया, बरगद की कोमल जटाएं और लहसुन, टीरोकार्पस सैंटालिनस तथा नाइजेलिया सेटाइवा का उपयोग किया जाता है।

दमे के लिए बताये गये सभी खाद्य बृंहण (मोटापा बढ़ानेवाले, पोषक, और रस आदि धातुवर्धक) और वातहर हैं। अतः दूध, अंडे आदि वात को मर्यादित करके दमा उत्पन्न करने वाले कारणों के विरुद्ध क्रिया करते हैं।

इस तालिका के सभी द्रव्य बृंहण, वृष्य और सप्तधातुवर्धक (पौष्टिक, वाजीकर तथा शरीर के सात ऊतकों के निर्माण में सहायक) हैं। सूची का अंतिम द्रव्य विदारी अच्छा आर्तवजनक है। भावप्रकाश निघंटु के अनुसार–

विदारी मधुरा स्निग्धा बृंहणी स्तन्यशुक्रदा।

शीता स्वर्या मूत्रला च जीवनी बलवर्णदा।।

गुरुः पित्तास्रपवन दाहनृ हन्ति रसायनी।

(गुडूच्यादिवर्ग, श्लोक १९१–१९२)

अर्थात् विदारी मीठी, चिकनी, पौष्टिक, दूध और वीर्य बढ़ानेवाली, ठंडी, स्वर को निखारनेवाली, मूत्र निर्मात्री, आयुष्य, शक्ति और रंगत प्रदान करनेवाली, पचने में भारी, पित्त, रक्त और वात का और जलन का शमन करनेवाली तथा पुनर्यौवनदात्री है।

पेट के फोड़े में वात दूषित हो जाता है। मेथी और उड़द का शोरबा वात का नियंत्रण करता है। भावप्रकाश निघंटु (वटादि वर्ग, श्लोक २) के अनुसार–

वटः शीतो गुरुग्राही कफपित्त व्रणापहः

अर्थात् बरगद शीतलता प्रदान करनेवाला, पचने में भारी, कब्ज करनेवाला और कफ, पित्त तथा व्रण को दूर करनेवाला है। भावप्रकाश निघंटु (कर्पूरादि वर्ग, श्लोक १७) के अनुसार सादा *"तिक्तं नेत्रहितं वृष्यं ज्वरव्रणविषापहम् "*

अर्थात् यह तीता, आंखों के लिए हितकर, वाजीकर तथा ज्वर, घाव और विष को दूर करनेवाला है। लहसुन एक अच्छा संशोधक है। भावप्रकाश निघंटु

(हरीतक्यादि वर्ग, श्लोक २२३) के अनुसार यह पेट के दर्द और भूख की कमी को दूर करता है। पेट के फोड़े में पेट दर्द और भूख की कमी हो जाती है और लहसुन दोनों को ठीक करके लाभ पहुंचाता हैं। भावप्रकाश निघंटु (हरीतक्यादि वर्ग, श्लोक ८४-८५) में काला जीरा कब्ज करनेवाला, भूख बढ़ानेवाला और खाना हजम करानेवाला बताया गया है। काले जीरे के ये गुण पाचन तंत्र को, जो कि पेट के घाव में अस्त-व्यस्त हो जाता है, सामान्य बनाने में सहायक होते हैं।

लोकोक्तियां और श्रुति परंपरा

हमारी जनता के बीच में व्यापक रूप से प्रचलित स्वास्थ्य विषयक विशाल ज्ञानराशि मुख्यतः श्रुति परंपरा के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से चली आ रही है। यहां हम इसके एक पक्ष अर्थात् कहावतों पर ध्यान दे रहे हैं, जिनसे हमारी जनता की बुद्धिमानी और अंर्तदृष्टि उजागर होती है। एतदर्थ हमने तमिल एवं हिन्दी की कुछ कहावतें चुनी हैं और आयुर्वेद की दृष्टि से उनके अर्थ की जांच की है। सुविधा की दृष्टि से इन कहावतों को तीन शीर्षकों के अंतर्गत वर्गीकृत किया गया है।

१. दिनचर्या संबंधी लोकोक्तियां

"आलु वेलुम् पल्लुक्कु उरुति"-बरगद और खैर दांतों को मजबूती प्रदान करते हैं।

"कालौ तु इल्वानुम् मालौ इरुप्पानुम्मतर"-दिन में सोने और रात में जागने वाले दुख भुगतेंगे।

"गुरुवुक्कु द्रोहं सेदालु कुडलुक्कु द्रोहं सैटय कुडादु'-कोई चाहे अपने गुरु को धोखा दे, पर अपने पेट को कभी धोखा न दे।

"*नोइ कट्ट वायै क टुटु*"–रोगों को नियंत्रित करने के लिए खाने की आदतों पर नियंत्रण करना चाहिए।

"*नोरुगा तिंड्डाल नूरु वयधु*"–जो भलीभांति चबाकर खाता है वह सौ साल तक जीता है।

"*वैद्यनुक्कु कुडुपतै वाणियनुक्कु कुडुक्कलाम*"–वैद्यों पर पैसे खर्च करने से तेली पर खर्च करना बेहतर है (अर्थात् तिल के तेल का उपयोग बढ़ायें)।

इस वर्ग की लोकोक्तियां आहार–विहार / दिनचर्या से संबंधित हैं। दंत धावन या दांतों को रगड़ कर साफ करने का आदेश है और इसके लिए बरगद, पीपल आदि की टहनियों के साथ इरिमेध / खदिर का प्रयोग बताया गया है। नियमित रूप से सोने और प्रातः उठने की आदत डालने की सलाह दी गयी है। 'स्वप्नविपर्यय' अर्थात् दिन में सोने और रात में जागने का निषेध करते हुए इसे समस्त दोषों की गड़बड़ी का कारण बताया गया है। विधि–निषेधों का उल्लेख जब–जब हुआ है तब–तब नियमित भोजन की आदत डालने पर जोर दिया गया है। वेग होने के कारण भूख को न रोकने की सलाह दी गयी है। '*न वेगान्धारयेद्धी मान्*' अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति वेगों का कभी दमन न करे, क्योंकि वेगों का दमन अनेक रोगों का कारण बन जाता है। चरकसंहिता (सूत्रस्थान, अध्याय ७, श्लोक) में कहा गया है कि–'*एतान्नधारयेज्जातान् वेगान् रोगा भवन्ति ये*' अर्थात् इन वेगों के दमन से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

यद्यपि आचार्यों ने भोजन में टालमटोल और भूखे रहने से मना किया है, परन्तु उन्होंने खुलकर खाने से भी मना किया है। '*त्रिविधकुक्षीयम्*' नामक विमान स्थान के अध्याय में चरक ने अमर्यादित भोजन के जोखिमों का विस्तार से वर्णन

किया है। तदनुसार पेट की समाई का तिहाई ही ठोस आहार से भरना चाहिए। शेष भाग तरल पदार्थ और दोषों के परिसंचरण के लिए खाली छोड़ना चाहिए। यथासमय मर्यादित भोजन करने मात्र से व्याधियों से बचा जा सकता है। भोजन की विधि भी बतायी गयी है कि कौर को यों ही गटक नहीं लेना चाहिए, बल्कि उसे अच्छी तरह चबा-चबा कर ही निगलना चाहिए। चबाना बोधक कफ, क्लेदक कफ जैसे दोषों की क्रिया में भी सहायक होता है। अंत में अच्छे स्वास्थ्य के लिए अभ्यंग (तेल मालिश) की आदत डालने पर जोर दिया गया है और उसे नित्यकर्म में संम्मिलित किया गया है — *अभ्यंगमाचरेत् नित्यम्।* इससे रोगों से प्रतिरक्षण प्राप्त होता है।

२. घरेलू उपचार और खाने की आदतें

"कीरि आत्रिनाल पुणआरुम"--चीरा गया फोड़ा शीघ्र अच्छा होता है।

"आसन वेडिप्पुक्कु तुत्ति कीरै"-'तुत्ति' अर्थात् अतिबला की पत्तियां बवासीर के लिए अच्छी हैं।

"कणिन् वीक्कतिरुक्कु कडुक्कायि विलुथु"-आंखों की सूजन में हरड़ को पानी में घिस कर आंखों में लगायें।

"वातम् नींग वातनारायण कीरै"-वात का शमन करने के लिए वातनारायण की पत्तियों का प्रयोग करें।

"कोलुतवनुक्कु कोल्लुम इलइत्तवणुक्कु एलुम्"-स्थूलकाय लोगों के लिए कुलथी और दुर्बलों के लिए तिल उपयोगी है।

"स्वामि इल्लइ एंड्राल सानियै पार, मरुडु इल्लइ एंड्राल पणत्तइ पार, बेदि इल्लइ एंड्राल नेवालित्तै, पार"-यदि तुम्हें भगवान न मिले तो गाय के गोबर को देखो,

यदि दवा न मिले तो धन को देखो और तुम्हें कब्ज हो तो दन्ती को देखो यानी उसका इस्तेमाल करो।

कहावतों के रूप में हमें अपने पुरखों से जो सरल घरेलू उपचार और खाने की आदतें प्राप्त हुई हैं, उनका देसी चिकित्सा पद्धतियों के शास्त्रोक्त सिद्धांतों से रोचक संबंध है। इस वर्ग की पहली लोकोक्ति कि चीरने से फोड़ा जल्दी अच्छा होता है, शास्त्र संमत है क्योंकि इस प्रक्रिया से हम संचित दोषों को निकाल देते हैं, अर्थात् चीरा लगाने से शोधन होता है। संचित दोष यदि ऊतकों की राह में आड़े न आयें तो वे स्वस्थ हों। जब इस प्रक्रिया से दोष निकाल दिये जाते हैं तो ऊतक (धातुएं) स्वास्थ्य लाभ की प्रक्रिया पूरी कर पाते हैं।

बवासीर में अतिबला का प्रयोग तर्कसंगत है क्योंकि उसके गुण स्नेहन, मृदुरेचन और व्रणरोपण हैं और साथ ही वह गुदकंडू अर्थात् गुदा की खुजली में भी उपयोगी है। इस रोग में अतिबला के इन सभी गुणों का उपयोग हो सकता है।

शोथहर (सूजन हरनेवाली) और चक्षुष्य (आंखों के लिए हितकर) होने से हरीतकी आंखों अथवा पलकों की हर प्रकार की सूजन और फोड़े पर लगाने की सहज औषधि है। वातनारायण एक प्रसिद्ध वातशामक द्रव्य है और अनेक वातनाशक कषायों और तेलों में प्रयुक्त होता है।

हल्की, विदाही और उष्णवीर्य होने से कुलथी एक अच्छी स्थौल्यहर या मेदोनाशक है। दूसरी ओर तिल गुरु, स्निग्ध, बलकर, स्पर्शशीतल और सप्त धातुवर्धक है अर्थात् ऊतक निर्माता धातुओं में सुधार करता है।

मूर्ति के अभाव में गाय के गोबर से मूर्ति बना ली जाती है और कब्ज होने पर दंती का सहारा लेना चाहिए जो कि विरेचन की उत्तम औषधि है और कब्ज दूर कर देती है।

३. बृहत्तर समस्याओं / सिद्धांतों पर आधारित लोकोक्तियां

"वातत्तिल कोटावियुम, पित्तत्तिल कणकला रेयुम, श्लेष्मत्तिल अन्नद्वेषमुम्मूंडागुम"–जब वात, पित्त और कफ प्रकुपित होते है तो क्रमशः जम्हाई, आखों में जलन और अन्न में अरुचि उत्पन्न होती है।

"वातनाडि नांगु, पित्त नाडि इरंडु, कफ नाडि औन्डु"–वात, पित्त और कफ नाड़ियां क्रमशः चार, दो और एक मात्रा में गंभीर होती हैं।

"अन्न इरंगुवदे अपानवायुवाल"– आहार अपानवायु के कारण ही नीचे उतरता है।

"लंघनं परमौषधम्–उपवास श्रेष्ठ औषध है।

"कोल्लुवतइ कोंडु हल्लुवतै तल्लिनाल उनवे मरुडागुम'

लाभदायक का ग्रहण और हानिकारक का त्याग करे तो भोजन ही औषध है। जागने आदि से वात दूषित हो जाता है, जिससे शरीर को पूरा पोषण प्राप्त नहीं होता, चिकनाई की कमी (रूक्षता के अतिरेक के कारण) हो जाती है, जो जम्हाई की सहज क्रिया में प्रतिफलित होती है। उष्ण और तीक्ष्ण गुण के कारण पित्त जलन की अनुभूति उत्पन्न कर सकता है। श्लेष्मा के दूषित होने पर अग्निसादन होता है अर्थात् जठराग्नि गुणहीन हो जाती है, जिसके कारण अन्न के प्रति सहज अरुचि उत्पन्न हो जाती है। सामान्य स्वस्थ अवस्था में इन नाड़ियों की सापेक्ष शक्ति सिद्ध ग्रंथों में पाये जाने वाले वर्णन के अनुरूप है।

आहार के चबाने और निगलने से लेकर मलत्याग तक की पाचन की प्रक्रिया में पांचों प्रकार के वात एक न एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अपानवायु अंत में सक्रिय होकर मलत्याग में सहायक होती है। अतः शौच के नियमित अभ्यास से पाचन क्रिया सहज होती है, जिससे भूख खुलकर लगती है। नियमित अंतर पर उपवास करना लाभदायक है, क्योंकि इससे पाचन तंत्र को विश्राम मिलता है और पाचन–प्रक्रिया में संचित विषैले पदार्थों को बाहर निकालने में

मदद मिलती है। उपवास का अर्थ यदा–कदा भोजन न करना या संतुलित आहार के नियमों का अव्यवस्थित पालन नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ एक या दो सप्ताह के निश्चित अंतर पर उपवास करना है। सभी आचार्यों ने पथ्य को उपचार का महत्वपूर्ण अंग माना है।

हिंदी लोकोक्तियां

उत्तर भारत में हिंदी व उसकी उपभाषाओं में भी असंख्य लोकोक्तियां प्रचलित हैं। इनमें से अधिकांश स्वास्थ्य, कृषि व दैनिक जीवन के मूल्यों से ही संबंधित हैं। स्वास्थ्य की कुछ लोकोक्तियों का वर्णन हम अपने पाठकों के लिए कर रहे हैं :-

त्रिफला त्रिकुटा मौलिश्री सातों नमक पतंग।

दांत वज्र हो जात है माजूफल के संग।

तर्काधार– त्रिफला (हरड़,बहेड़ा और आंवला) त्रिकटु (सोंठ, कालीमिर्च और पिप्पली),मौलिश्री की छाल, सातों नमक (वास्तव में पांच नमक माने जाते हैं सैंधव या सेंधा नमक, सामुद्र–सादा समुद्री नमक, विड– नौसादर को

विड नमक मानते हैं, सौवर्चल- कालानमक तथा औरनिद- खारी नामक, पतंग (पतंग नामक वृक्ष, जिसे अंग्रेजी में सैपनवुड और लैटिन में सीसैलपिनिया सैप्पन कहते हैं उसके तने का काष्ठ), माजूफल को कूट पीस कर महीन चूर्ण छानकर समान मात्रा में मिलावे। मंजन के रूप में प्रयोग करने पर दांत मजबूत हो जाते हैं। ये समस्त द्रव्य (लवणों के अतिरिक्त) कसैले (कषाय) जो स्तम्भन गुण सम्पन्न है तथा स्राव अवरोधक हैं। परिणाम स्वरूप दांतों का हिलना, मसूड़ों से खून एवं पीब का बहना, दुर्गन्ध आना जैसे कष्ट दूर करते हैं। लवण लेखन कर्म करते हैं जिससे दांतों में स्वच्छता आती है और शोथ (सूजन) दूर होती है। अतः यह योग मंजन के रूप में प्रयोग करने पर निश्चित ही लाभकारी होगा।

सोंठ सोहागा सोचर गांधी, सहजन के रस गोली बांधी।

अस्सी शूल बहत्तर बाई, कहे धन्वन्तरि छन में जाई।।

तर्काधार- इस नुस्खे में जिन औषधियों का नाम आता है - सोंठ, सोहागा, सोचर (काला नमक), गांधी (हींग) इनमें सब की सब आयुर्वेद के मतानुसार दीपन (भूख बढ़ाने वाली), पाचन, रोचक, वातानुलोमन (गैस निकालने वाली), विदाही (जलन मिटाने वाली), शूलप्रशमन (दर्द में लाभकर), कृमिघ्न (कीड़े मारने वाली दवा) आदि गुणों से युक्त हैं। पेट में दर्द (शूल) अधिकतर अपच, पेट में कीड़े होने से, जलन व खट्टी डकारें आने से, गैस जमा होने से, कब्ज रहने के कारण, आँव बनने आदि कारणों से लोगों को हुआ करता है। इस लोकोक्ति में कही हुई औषधियां किसी न किसी रूप में इन रोगों में फायदा पहुचाती है। इसी प्रकार जोड़ों का दर्द, जो अधिकतर पेट में तकलीफ बने रहने के कारण पैदा होता है, उसमें भी यह लोकोक्ति सार्थक है।

इसी प्रकार दिनचर्या के सामान्य सिद्धान्तों में स्वास्थ्य के लिए कुछ प्रचलित लोकोक्तियाँ निम्न हैं :

उषः पान का महत्व तो सर्वविदित है प्रातः काल खाली पेट पानी पीने से रात्रि में शरीर में संचित होने वाले विष द्रव्य मूत्र व मल मार्ग से बाहर हो जाते हैं।

निन्रे पानी जे पिये, हर्र भूंज के खाय।

दूध बियारी जे करे, ता घर बैद न जाय।।

तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति सुबह खाली पेट पानी पीता है, हरड़ भून कर खाता है, रात्रिकालीन भोजन दुग्ध –प्रधान करता है उसके घर वैद्य को नहीं जाना पड़ता, अर्थात वह सदा स्वस्थ रहता है। वैद्य से बचने का एक और नुस्खा प्रस्तुत है–

ठंडो सपड़े तातो खाय।

ता घर बैद कबहुं न जाय।।

हमेशा ठंडे पानी से स्नान करना और गरम–गरम भोजन करना सदा स्वस्थ रखता है। भोजन चाहे कैसा हो किन्तु उसकी सुनिश्चित मात्रा है कि आधा पेट ठोस आहार लें 1/4 भाग पानी और बाकी 1/4 भाग आहार के संचरण हेतु खाली छोड़ना चाहिये। भोजन करके बायीं करवट सोना सदा लाभकारी है।

आधे पेट अन्न, पौन पेट नो पानी।

खाके बांयें सोवे, मरै वैद्य की नानी।।

भोजन की गति के लिए उदर में अवकाश होना जरूरी है। दाहिनी ओर यकृत, पित्ताशय, पित्त नलिका है अतः दाहिनी करवट सोने से पित्त स्राव में बाधा पड़ती है, अतएव भोजन के बाद सम्यक पाचन हेतु उपर्युक्त दोनों लोकोक्तियों में बांयी करवट सोने का विधान है।

कुछ लोकोक्तियां रोग विशेष की रोकथाम एवं उपचार से संबंधित हैं। ऐसी ही कुछ स्वास्थ्य लोकोक्तियां इस प्रकार हैं।

आंखों के रोग– नेत्र रोग से रक्षा और नेत्र ज्योति बढ़ाने के लिये निम्न नुस्खा प्रस्तुत है–

मिट्टी के नवपात्र में त्रिफला रात्रि में डारि।

सुबह सबेरे धोयके आंख रोग कौ टारि।।

अर्थात मिट्टी के नये बर्तन में त्रिफला का पानी रात को भिगो दें। इस पानी से सवेरे आखों को धों लें। नेत्र ज्योति को तेज करने के सम्बन्ध में एक कहावत है–

काली मिर्च को पीस कर घी–बूरे संग खाय।

नैन रोग सब दूर हों गिद्ध दृष्टि हो जाय।।

अर्थात काली मिर्च को महीन पीसकर घी और शक्कर के साथ खाने से आंखों की ज्योति गिद्ध पक्षी के समान हो जाती है। आखों की जलन और पीड़ा दूर करने का नुस्खा–

धुनी फिटकरी लीजिये जल गुलाब में धोय।

आंख जलन जाली मिटे वैदन के ये बोल।।

ऐलोपैथ में आंखों में फुल्ली और जाले का उपचार आंखों का आपरेशन है। इस विषय में कहावत है–

अजयपाल के दूध में, घिस कपूर जो नैन,

फुल्ली मिटै छोटी बड़ी परि जात है चैन।।

अर्थात बरगद के दूध में कपूर घिस कर लगाने से आंखों की फूली मिट जाती है और आंखों को आराम मिल जाता है।

बालों को काला रखने के लिए– आज कल छोटी आयु में लोगों के बाल पकने लगते हैं इस सम्बन्ध में कहावत है–

त्रिफला जल से जो सिर धोवे, बाल सफेद न वाकों होवें।

अर्थात त्रिफला के पानी से जो व्यक्ति सिर धोकर स्नान करते हैं उनके बाल असमय में सफेद नहीं होते।

बिच्छू विष हरण के विषय में कहावत है :–

लहसुन दूध मदार को दोनों संग मिलाय।

बिच्छू काटै पर धरै तुरतहिं विष मिट जाय।।

अर्थात लहसुन और मदार (आक) का दूध मिलाकर बिच्छू ने जिस स्थान पर डंक मारा हो वहां लगाने से उसका विष तुरन्त उतर जाता है।

रोकथाम के उपाय

विभिन्न रोगों के उपचार के अतिरिक्त अनेक प्रकार के रोकथाम के उपाय भी स्थानीय रूप से ज्ञात हैं। विभिन्न ऋतुओं में कुछ निश्चित पदार्थों का सेवन और कुछ का वर्जन इन उपायों में सम्मिलित है। कुछ निश्चित रोगों के विरूद्ध रोकथाम के औषधि–प्रयोग भी हैं। सितंबर १९८८ में लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति ने अहमदाबाद में "पारंपरिक चिकित्सा और प्रतिरक्षा विज्ञान" विषय पर एक कार्यशाला आयोजित की थी। इसमें अनेक रोगों के रोकथाम की विविध स्थानीय परंपराओं की चर्चा हुई थी। स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं में छोटी चेचक, मलेरिया, अतिसार, कुक्कुर खांसी, यकृत् शोथ आदि अनेक रोगों के उपाय अब विदित हैं।

ऋतुचर्या अथवा मौसमी पथ्यापथ्य

ऋतुचर्या का ज्ञान रोगों के रोकथाम का एक महत्वपूर्ण पहलू है। किसी विशिष्ट ऋतु में और ऋतुओं में होने वाले परिवर्तनों की स्थिति में खाने की आदतों में परिवर्तन करना इसमें सम्मिलित है। इनमें से कुछ सांस्कृतिक व्यवहार के रुप में प्रचलित हैं। उदाहरण के लिये, भारत के अनेक हिस्सों में जाड़ों के मौसम में, गर्मियों के आहार जो प्रायः पचने में आसान अर्थात् लघु होते हैं की अपेक्षा भारी और पचने में कठिन (आयुर्वेदीय शब्दावली में गुरु) आहार लिये जाते हैं। यह आयुर्वेदीय बोध के अनुसार उचित है क्योंकि गर्मी के महीनों की अपेक्षा जाड़ों के ठंडे महीनों में पाचक अग्नि बहुत प्रबल रहती है।

किसी खास मौसम में फैल सकनेवाले रोगों से बचाव से संबंधित कुछ अन्य नियम भी हैं। उदाहरण के लिए, आन्ध्र प्रदेश के अनेक हिस्सों में वसंत ऋतु के प्रारंभ में नीम की कोमल पत्तियों और फूलों के सेवन की परंपरा है, जो उस ऋतु

की अवधि में बराबर जारी रखी जाती है। यह पूर्णतया तर्कसंगत है, क्योंकि वसंत ऋतु में कफ दूषित होता है और नीम की पत्तियां उसे सुधारने का काम बखूबी कर सकती हैं।

योग और अन्य शारीरिक व्यायाम

स्वास्थ्य संरक्षण की सर्वाधिक महत्वपूर्ण परंपराओं में योगाभ्यास, विशेष रूप से आसन और प्राणायाम, अन्यतम है। यह प्रथा, जो भारत (और दक्षिण पूर्व एशिया) के अनेक भागों में व्यापक रूप से प्रचलित है, न केवल सामान्य स्वास्थ्य संरक्षण के लिए व्यवहृत है, बल्कि अनेक व्याधियों की चिकित्सा में भी काम आ रही है। पारंपरिक बोध के अनुसार योग न केवल व्यायामों का एक समूह है, बल्कि इसे एक दर्शन–भारतीय चिंतन की प्रधान शैली–के रूप में भी मान्यता मिली हुई है। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में योगदर्शन के सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं। देश के विभिन्न हिस्सों में योगाभ्यास के अनेक ग्रंथ और पंथ पाये जाते हैं।

अनेक रोगों की चिकित्सा में योग का प्रयोग सफल रहा है। अनेक सामुदायिक स्वास्थ्य संगठनों ने योग का चिकित्सा के लिए प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए उत्तर कन्नड़ जिले में विवेकानंद आश्रम में दमा जैसे अनेक रोगों की चिकित्सा में योगाभ्यास का सफल प्रयोग किया गया है। कृष्णमाचार्य योगमंदिरम्, मद्रास में भी चिकित्सीय उद्देश्यों के लिए योग का सफल प्रयोग किया जाता है। यह संस्था मानसिक मंदता का भी उपचार करती है और इस रोग पर उनका एक विशिष्ट कार्यक्रम भी है [९]।

निदान

उपचार और रोकथाम दोनों में निदान करने की योग्यता का बड़ा महत्व है। स्थानीय परंपराओं में अनेक व्याधित अवस्थाओं के निदान की सूक्ष्म तकनीकें है और उनके उपयोग भी हो रहे हैं। नाड़ी को महसूस करके निदान करने की कला या नाड़ी परीक्षा उन अनेक परंपराओं में से एक है, जिनका प्रयोग बहुत सी व्याधियों में किया जा सकता है। यह एक अत्यंत दुर्बोध और दुरूह कला है, मगर जब स्थानीय वैद्य के पास कोई रोगी आता है, तो वैद्य सर्वप्रथम रोगी की नाड़ी परीक्षा करता है।

योग बनाम शारीरिक व्यायाम

क्या योग और शारीरिक व्यायाम एक हैं और एक दूसरे का स्थान ले सकते हैं ? भारत में शारीरिक व्यायाम की जो प्राचीन धारणा है, वह आधुनिक कसरत की धारणा से भिन्न है। तदनुसार, योग जैसे भारत के पारंपरिक शारीरिक व्यायाम 'सर्वांगसाधनाछ हैं और शरीर के सभी अंगों को संतुलित व्यायाम कराते हैं। इसके विपरीत, आज जो विविध खेल-कूद विशेष प्रचलित हैं, उनमें से कई तो 'अंगभंगसाधनाछ हैं अर्थात् उनमें संतुलितता की कमी है।

भारतीय परंपरा की कतिपय सुप्रसिद्ध कसरतें मल्ल युद्ध, कल रिप्पयत (व्यायाम और सशस्त्र युद्ध की केरलीय परंपरा), सिलंबम (व्यायाम और युद्ध की तमिलनाडु परंपरा) मल्लखंब आदि हैं। भारत के अनेक भागों में ऐसी अनेक परंपराएं है।

भारत में, विशेष रूप से महाराष्ट्र और गुजरात में प्रचलित विविध खेल-कूदों का संकलन दस खंडों में प्रकाशित एक विश्वकोष में निबद्ध है। व्यायाम-ज्ञान कोष नामक इस ग्रंथ की रचना १९३० के आसपास बड़ौदा वासी दत्तात्रेय मजूमदार ने की थी।

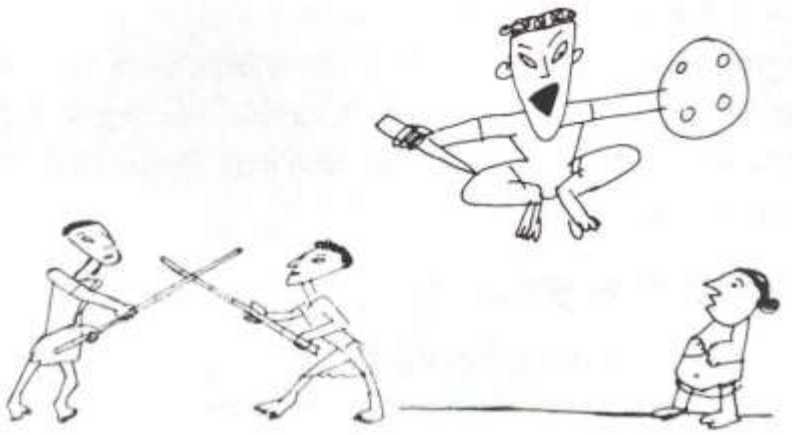

सुनिश्चित व्याधियों और अवस्थाओं के निदान के लिए विविध प्रक्रियाएं भी परंपराओं में जीवंत हैं। मसलन, तमिलनाडु में गर्भ का निश्चय करने की एक परंपरागत विधि है। नारियल के कवच में गर्भिणी का मूत्र लेकर उसमें वेल्लइ पूनइकांचि पौधे की पत्तियां डालकर रात में रख देते हैं। यदि प्रातः इन पत्तियों पर धब्बे नजर आते है तो गर्भ होने का निश्चय हो जाता है। इसी प्रकार कामला और अन्य रोगों के विनिश्चय के भी तौर-तरीके हैं।

रावणकृत नाड़ी परीक्षा निदान का एक शास्त्रीय ग्रंथ है। इसके अनुसार रोगी की परीक्षा आठ अलग-अलग परीक्षणों से पूरी होती है। चिकित्सक को रोगी की नाड़ी मल -मूत्र - जिह्वा - शब्द - स्पर्श-नेत्र-आकृति का परीक्षण करना चाहिए। स्थानीय चिकित्सा पद्धति में ये सभी परीक्षण व्यवहार में प्रायः प्रचलित हैं। कभी-कभी केवल एक के परीक्षण से ही रोग का स्पष्ट संकेत मिल जाता है। उदाहरणार्थ दक्षिण के अनेक हिस्सों में संदिग्ध सर्पदंश के रोगी को अरघु का चूर्ण खिलाते हैं, जो कि सहज कड़वा होता है। रोगी द्वारा बताये गये स्वाद से निर्णय हो जाता है कि उसे विषैले सांप ने काटा या विषहीन सांप ने या उसे काटा (सांप ने) ही नहीं है और वह केवल भयग्रस्त है। यह परीक्षण इस समझ पर आधारित है कि विष किस प्रकार विभिन्न इंद्रियों और हमारी षड्सों को पहचानने की क्षमता को प्रभावित करते हैं।

विशेषज्ञता के क्षेत्र

अभी तक हमने उन परंपराओं की रूपरेखा प्रस्तुत की है, जिनके पीछे विवेक का ज्ञान-आधार अतिविस्तार में, सामान्य बीमारियों, घरेलू उपचारों, आहार शास्त्र के ज्ञान, ऋतुचर्या, रोकथाम के उपाय आदि क्षेत्रों में फैला है। परंतु

कुछ विशिष्टतर परंपराएं ऐसी भी हैं, जिनका ज्ञान एक व्यक्ति, परिवार या स्थान तक ही सीमित है। कहीं-कहीं ऐसा परिवार मिल जाता है जो किसी एक रोग जैसे दमे के इलाज में प्रवीण है।

हर साल कार्तिक-मार्गशीर्ष के दिनों में दमे के हजारों मरीज हैदराबाद के उस परिवार की ओर खिंचे चले जाते हैं, जो पीढ़ियों से दमे की दवा निःशुल्क देते आ रहे हैं। यह दवा जिन बूटियों के मिश्रण से बनती है, उन्हें वह गौड़ा परिवार ही जानता है। यह दवा दो-तीन इंच लंबी मछली (मुरेल हो तो उत्तम) में ठूंस कर रोगी के गले के नीचे उतार दी जाती है। वे रोगी, जो मछली निगलना नहीं चाहते, उन्हें गुड़ के साथ दवा खिलायी जाती है जो कम असरदार साबित होती है। कहा जाता है कि कार्तिक-मार्गशीर्ष में तीन दिन दवा लेने के बाद तीन वर्षों के भीतर दमा ठीक हो जाता है। किंतु दवा लेने के बाद ४५ दिनों तक रोगी को निर्बंधित आहार पर रहना पड़ता है।

इस विद्या के स्रोत के बारे में चिकित्सक परिवार का कहना है कि चार पीढ़ियों पहले उनके पूर्वज मल्लैया गौड़ा को किसी महात्मा ने नुस्खा बताकर बूटी दी थी।। लगभग १२० वर्षों से तभी से यह परिवार कार्तिक-मार्गशीर्ष के दिनों में निःशुल्क दवा बांटता आ रहा है।

कन्याकुमारी जिले के 'वर्म आसान'

कन्याकुमारी केरल की सीमा पर स्थित तमिलनाडु के सुदूर दक्षिण का जिला है। यह सिद्ध चिकित्सा की समृद्ध और सुविकसित परंपरा का गढ़ रहा है। यहां के निवासियों का कहना है कि जब रामायण काल में मूर्च्छित ल क्ष्मण की चिकित्सा के लिए हनुमान संजीवनी पर्वत ले जा रहे थे, तो उसकी कुछ शिलाएं कन्याकुमारी में गिर पड़ीं और तभी से कन्याकुमारी औषधीय वनस्पतियों और चिकित्सा परंपराओं से समृद्ध होती चली आ रही है। आज भी इस जिले मे 'वर्म' कला फल और फूल रही है। आज भी यहां अनेक 'आसान'(अर्थात् 'वर्म' कला में दक्ष आचार्य) पाए जाते हैं।

सिद्धवैद्य राजामणि के कथनानुसार, यह 'वर्मक कलौ' भारतीय चिकित्सा की बहुमूल्य निधि हो सकती है। यह अनेक तथाकथित असाध्य बीमारियों जैसे पोलियो, पक्षाघात, गठिया, संधिवात, आधासीसी, दमा, मोतियाबिंद आदि के इलाज का रास्ता दिखा सकती है। इसके अनुसार किन्हीं मर्मस्थलों पर पड़ी चोट के प्रभाव से क्षय, अंडवृद्धि, दमा, पक्षाघात आदि व्याधियां हो सकती हैं। जैसे कैपूटुवर्मम् (अंसफलक पर रीढ़ के मध्यस्थ भाग में) पर चोट पड़ने से ४०० दिनों में क्षयरोग होना निश्चित बताया जाता है। मद्रास के अन्ना हास्पिटल में सिद्धवैद्य राजामणि ने अब तक पोलियो के लगभग १००० रोगियों की चिकित्सा की है।

वर्म कलई (मर्म चिकित्सा)

इसी प्रकार विशेषज्ञता के अनेक अन्य क्षेत्र हैं जैसे, वर्म (मर्म) चिकित्सा, हड्डियां बैठाना आदि।

तमिलनाडु में प्रचलित देसी चिकित्सा रूढ़ियों में "वर्म कलई" या "वर्म चिकित्सइ" का बड़ा महत्व है। इस चिकित्सा में निष्णात व्यक्ति को "आसान" कहते हैं। पहले हर राज्य के राजवैद्यों के दल में एक 'आसान' का होना भी आवश्यक था। 'वर्मम' शरीर का वह महत्वपूर्ण स्थल है, जहां जीवन रहता है। उसे दबाकर, रगड़कर, उत्तेजित करके या चोट पहुंचा कर किसी रोग की चिकित्सा

सिद्धवैद्य धर्मलिंगम् कन्याकुमारी जिले के मणलकुरुची गांव के निवासी हैं। वे एक व्यक्तिगत अभ्यासी और ट्रावनकोर महाराज के राजवैद्य हैं। नागरकोइल में वे एक अस्पताल चलाते हैं। उनके तेरह पुरखे सिद्धवैद्य थे। उनका दावा है कि गठिया, पोलियो, अस्थिभंग, सर्पदंश, क्षय जैसे भयंकर रोग भी वर्मक कलाई से अच्छे हो जाते हैं, ज्वर और चर्मरोग जैसे सामान्य रोगों की तो बात ही क्या ? इलाज का ९५ प्रतिशत मालिश होता है और ५% खाने की दवा होती है। दवा वे स्वयं करते हैं। चिकित्सा के सभी सूत्र परिवार गोपनीय बनाये रखता है। उनका कहना है कि उनके परिवार के वैद्यों को रोगी की नाडी परीक्षा तक नहीं करनी पड़ती और वे रोगी को मात्र देखकर ही उसके रोग का अनुमान कर लेते हैं। उनका कहना है कि हर बीमारी का प्रभाव मन पर पड़ता है और मन की स्थिति चेहरे में प्रतिबिंबित होती है।

की जा सकती है, अथवा व्यक्ति के किसी अंग को बेकार किया जा सकता है। अतएव यह कला सबको नहीं सिखाई जाती थी। इसे केवल वे ही सीख सकते थे, जिन्होंने अपने क्रोध को जीत लिया हो और जो अति मृदु स्वभाव के हों तथा जिन्हें अपने ऊपर पूरा नियंत्रण हो।

तमिल में इस विषय पर अनेक ग्रंथ हैं, जिनमें वर्म स्थलों का निर्देश, उन पर घूंसों और चोटों का प्रभाव तथा चिकित्सा की विधियां दी हैं। उनमें से कुछ हैं–वर्म सूत्तिरम, वर्म पीरंगी, वर्म तिरवुकेले, वर्म पोन्नूसी, वर्म कुडूची, वर्म

सरसूतिरम, वर्म गुरु नाड़ी आदि। इन ग्रंथों में इस कला के अभ्यर्थी में आवश्यक अनिवार्य गुणों तथा चिकित्सा व्यवसाय में पालनीय नियमों का वर्णन भी पाया जाता है। जैसे, वर्म सूत्तिरम में कहा गया है, "चूंकि वर्म विज्ञान का संबंध लोगों के जीवन से है, अतः संदिग्ध चरित्रवालों को इसकी जानकारी देना, सारे समाज के लिए हानिकारक सिद्ध होगा। अतः वर्म की शिक्षा धर्मभीरु और सच्चरित्र व्यक्तियों को ही देनी चाहिए।"

वर्म बिंदुओं को, उन्हें प्रभावित करने की विधि के आधार पर निम्न छह वर्गों में विभाजित किया गया है :-

१. *पडु वर्मम्* (तीव्र चोट से)	१२
२. *तोडु वर्मम्* (स्पर्श से)	९६
३. *तट्टु वर्मम्* (घूंसा मार कर)	८
४. *तडवु वर्मम्* (मालिश से)	४
५. *नक्कु वर्मम्* (चाटकर)	१
६. *नोक्कु वर्मम्* (देखकर)	१

इस प्रकार इस पद्धति में १२२ वर्म हैं जिनके और भी अनेक वर्गीकरण हैं।

कुछ वर्म ऐसे हैं जिन पर मारने या चोट लगने पर एक निश्चित समय के अंदर चिकित्सा आवश्यक है, अन्यथा वह घातक हो सकता है। ऐसे वर्म स्थलों को 'कालम' कहते हैं। जैसे पलकों के बाहरी कोण पर 'नचैतिरा' एक 'कालम' बिंदु है। इस पर चोट होने से २७ 'नालिगे' (एक नालिगे लगभग ढाई मिनट का होता है) के अंदर उपचार न होने से वह घातक सिद्ध हो सकता है।

इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आधुनिक चिकित्सा व्यवसायियों के लिए वर्म कला बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। हालांकि कुछ स्थानों में, जैसे कन्याकुमारी जिले में, इसका प्रयोग आम है, परंतु अन्य नगरों में लोग इस उपचार के विषय में कम जानते हैं। सिद्ध वैद्य राजमणि के अनुसार "इस चामत्कारिक वर्म विज्ञान के लाभ संपूर्ण जनता तक पहुंचने चाहिए। इसके लिए सभी पद्धतियों के चिकित्सकों को इसका स्वीकार और प्रयोग करना होगा।"

सुश्रुत के अनुसार मर्मों का वर्गीकरण

कुल १०७ मर्म हैं। दो प्रकार से उन्हें वर्गीकृत किया गया है। एक वर्गीकरण का आधार मर्म की रचना है और दूसरे का आधार मर्म पर होने वाली चोट का प्रभाव है।

(क) मांस मर्म	११२	(क) सद्यः प्राणहर मर्म	१९
(ख) सिरा मर्म	४१	(ख) कालांतर प्राणहर मर्म	३३
(ग) स्नायु मर्म	२७	(ग) विशल्यघ्न मर्म	३
(घ) अस्थि मर्म	८	(घ) वैकल्यकर मर्म	४४
(ड.) संधि मर्म	२०	(ड.) रुजाकर मर्म	८

इनमें से कुछ मर्म चित्र में दर्शाये गये हैं। अधिपति, हृदय, नाभि, बस्ति आदि प्राणहर मर्म के उदाहरण हैं। पार्श्वसंधि, बृहती और इन्द्र बस्ति कालांतर प्राणहर मर्म हैं। उत्क्षेप और स्थापनी विशाल्यघ्न हैं। जानु, अंसफलक, विटपम्, कूर्परमुर्वी, विदुर, कुकुंदर–ये वैकल्यकर मर्म के उदाहरण हैं। गुल्फ और मणिबंध रुजाकर मर्म के दृष्टांत हैं।

हड्डी बैठाना

कम से कम देश के कुछ भागों में तो स्थानीय स्वास्थ्य परंपराएं हड्डियां बैठाने के क्षेत्र में बहुत मजबूत हैं। देश के अनेक हिस्सों में हडडी बैठानेवाले विशेषज्ञ–देसी चिकित्सक पाये जाते हैं। इसमें टूटी हड्डियों का ऐसा संधान किया जाता है, कि वे सुव्यवस्थित हो एक लाइन में कर ऐसी स्थिति में आ जायें कि ठीक हो सकें। हड्डियां बैठाने की प्रक्रिया चलते समय और बाद में उस अंग पर अनिवार्य रूप से जड़ी बूटी अथवा औषधीकृत तेल का लेप लगाया जाता है, जिससे स्वस्थ होने के प्रक्रिया को मदद मिलती है।

हड्डियां बैठाने के अंतर्गत भी अनेक विशेषज्ञताएं हैं और इनमें देश के कुछ भागों ने बाकी को पीछे छोड़ दिया है। उदाहरण के लिये तमिलनाडु में हड्डियां बैठाने के दो प्रसिद्ध केंद्र कोयंबटूर और पुत्तूर हैं। पुत्तूर का एक परिवार कई पीढ़ियों से इस कला में पारंगत होता चला आ रहा है। यह परिवार अस्थिभंग के स्थान पर बूटी से बनाया हुआ औषध लेप करता है। मद्रास के प्रख्यात विकलांग चिकित्सक

सुश्रुत द्वारा वर्णित मर्मस्थान

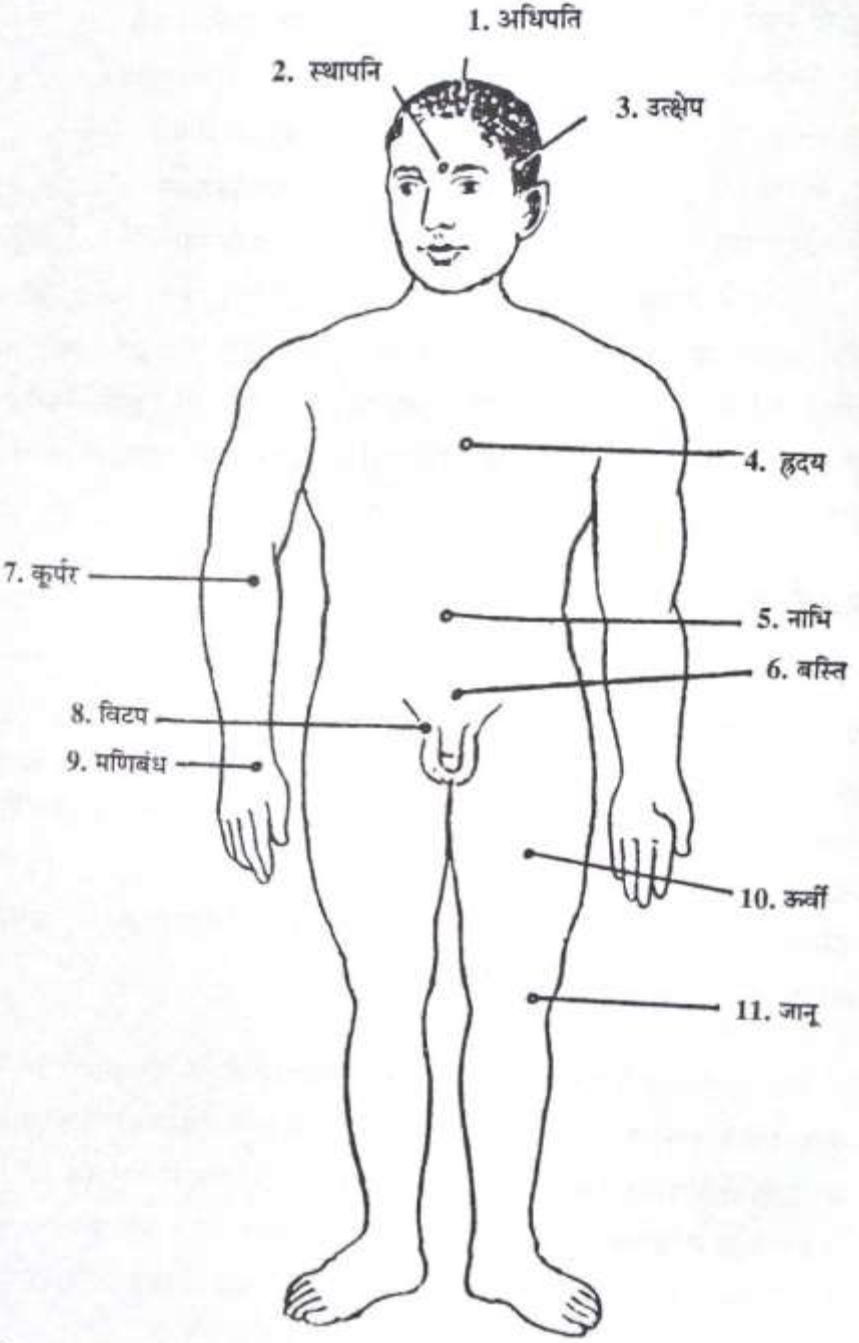

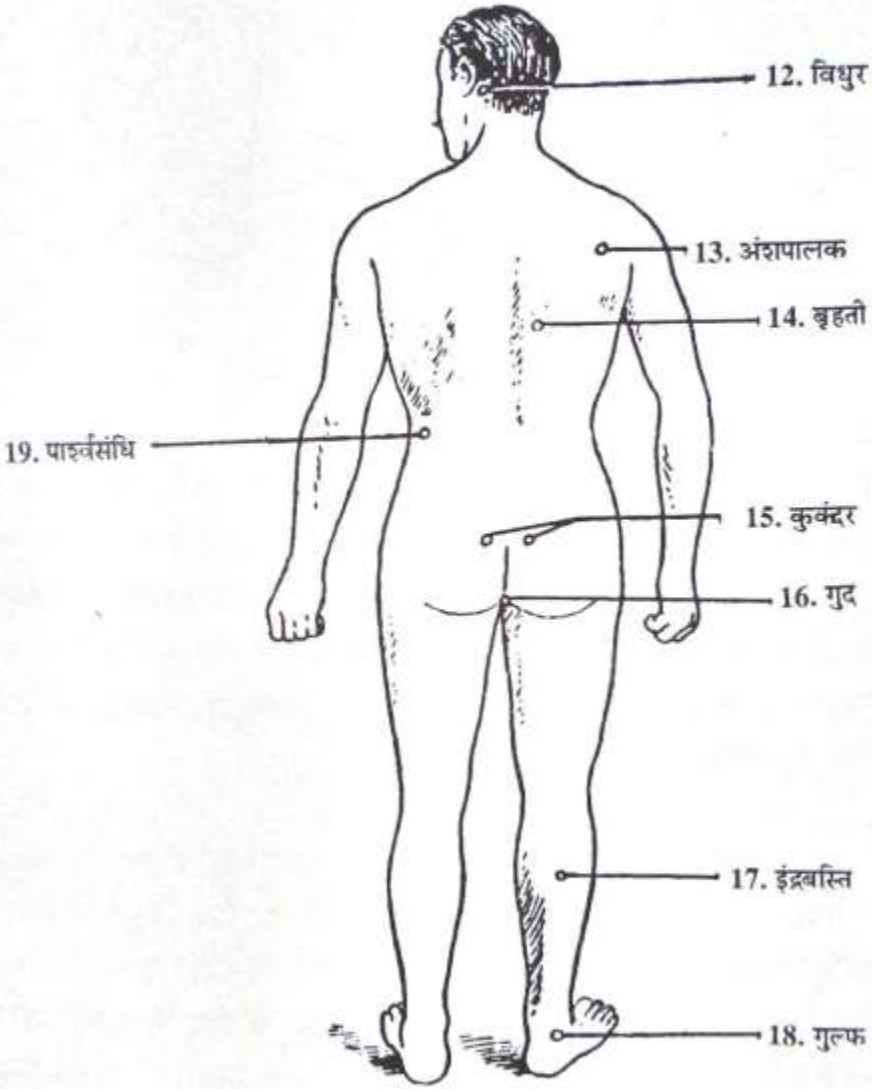
12. विधुर
13. अंशपालक
14. बृहती
19. पार्श्वसंधि
15. कुक्कंदर
16. गुद
17. इंद्रबस्ति
18. गुल्फ

प्रो. नटराजन, जिन्होंने तमिलनाडु के हडडी बैठानेवालो का वर्षो अध्ययन किया है, कहते हैं कि पुत्तूर के हड्डियां बैठानेवाले बांह के अस्थिभंग के लिए जैसी गल प ट्टी बनाते हैं, वह ब्रिटिश मूल के तथा हमारे विकलांग चिकित्सकों द्वारा व्यवहृत शास्त्रोक्त "कफ और कॉलर बंध' से कहीं अधिक लचीली और श्रेष्ठ है। एक अन्य हडडी बैठानेवाले विशेषज्ञ श्री अर्जुनन हैं जिनका अस्पताल कोयंबटूर के निकट तेलंगु पाल्लायम ग्राम में है।

कन्याकुमारी जिले में हडडी बैठानेवाले पारंपरिक चिकित्सक संज्ञाहरण के लिए मर्म-विद्या का प्रयोग करते हैं। यों तो सभी पारंपरिक हडडी बैठानेवाले चिकित्सक हडडी बैठा देते हैं, परन्तु संज्ञाहरण किये बिना होने से उनकी प्रक्रिया रोगी के लिए बहुत कष्टदायी हो जाती है। कन्याकुमारी वाले चिकित्सक अपनी मर्मज्ञता से रोगी का संज्ञाहरण करके उसकी हडडी बैठाते हैं, जिससे उसे न्यूनतम कष्ट होता है। तमिलनाडु के ति रुनेलवेली जिले की हडडी बैठाने की पंरपरा में अस्थिभंग के साथ-साथ खुला घाव होने की दशा में समुचित चिकित्सा विधान हैं। प्रतीत होता है कि हड्डियां बैठानेवाले केवल गांवों में ही नहीं है, बल्कि वे हमारे अनेक

महानगरों में भी कार्यरत हैं। इससे स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र की स्थानीय परंपराओं में अनेक उपादेय बातें हैं और इस कला के पारंपरिक विशेषज्ञों से शास्त्रीय विशेषज्ञों का संवाद अत्यंत सफल रहेगा।

विष चिकित्सा

सर्प, सर्पदंश और सर्पविष-चिकित्सा विषयक साहित्य हमारे देश में बहुत है। इनकी विषय-वस्तु निम्नवत् है :-

- रोकथाम के उपाय-सांपों को दूर रखने के लिए घर में कुछ पौधे उगाना और कुछ को उगने न देना।
- सांप काटे का इलाज।

यहां हम छोटा नागपुर क्षेत्र के भगतों में पायी जानेवाली चिकित्सा परंपरा पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे।

छोटा नागपुर के भगत

बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र के भगत (पारंपरिक चिकित्सा कर्मी) सर्पदंश की चिकित्सा करते हैं। विभिन्न प्रकार के विषों के वर्गीकरण की उनकी अपनी विधि है और जहर के फैलने के पहचान और इलाज का अपना तरीका है। उन्होंने विषों को तीन वर्गों में बांटा है। ये वर्ग दोषों पर आधारित है और शास्त्रोक्त तीन प्रधान वर्गों के समान हैं [११]।

भगतों द्वारा किया गया वर्गीकरण	शास्त्रोक्त वर्गीकरण
१. वह विष जो हाथ-पांव से लेकर सिर तक तुरंत फैल जाता है और जिसमें रोगी को बहुत तेज चुभन महसूस होती है।	राजिल-पित्त दूषक, इनकी प्रकृति आग्नेय होती है, अतः आग की लपटों की तरह विष की लहरें ऊपर की ओर उठती हैं।

भगतों का यह वर्गीकरण शास्त्रोक्त पित्त-दूषक विष से तुलनीय है क्योंकि इसकी गति ऊर्ध्वमुखी और तेज है।

२. जो रक्त को पतला करे।	दर्वीकर-वातदूषक। वातदोष ही पतला करने का काम करता है।

अतः यह सर्पविष वातदूषक विष से तुलनीय है।

३. चुभने जैसी पीड़ा और काटा हुआ अंग प्रभावित।

मंडली–कफदूषक, कफ सुस्त है अतः विष तेजी से फैलता नहीं और चुभन पैदा करता है।

चूंकि यह विष धीरे फैलता है और दष्ट स्थान में सीमित रहता है, अतः इसकी क्रिया कफदूषक विष के समान है।

ये अनेक प्रकार के उपचारों का व्यवहार करते हैं।

१. चूजों का उपयोग

चूजे की गुदा में एक चीरा लगाकर सर्पदंश के स्थान पर चिरी गुदा रख दी जाती है। कहा जाता है कि इससे सम्पूर्ण विष चूजे की गुदा में खिंच कर चला जाता है। एक चूजे के मरने पर दूसरा इसी तरह रखा जाता है। यह क्रिया तब तक दोहराते हैं जब तक कि उनका मरना बंद नहीं होता। शास्त्रों में रक्तरंजित मांस के

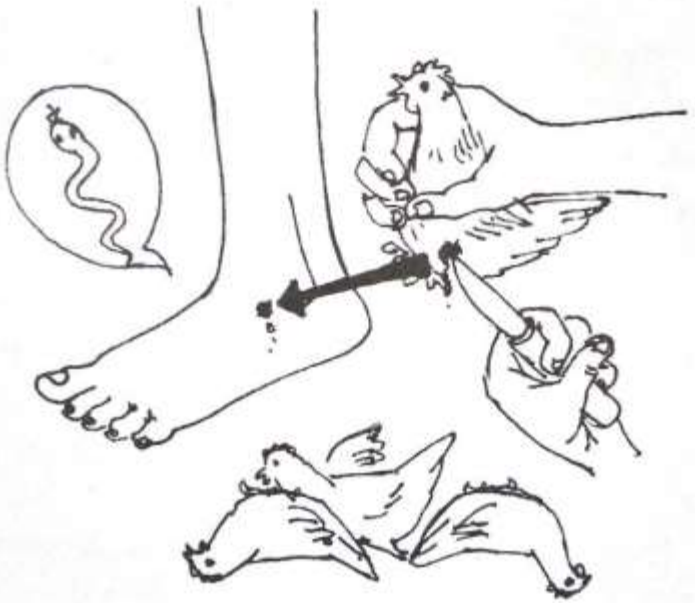

साथ इस प्रकार के प्रयोग करने की विधि बतायी गयी है। सुश्रुत संहिता (कल्पस्थान, अध्याय ५, श्लोक २४) में कहा गया है "*कृत्वा काक पदं चर्म सासृग्वा पिशितं क्षिपेत*" अर्थात् दष्ट स्थान पर ^ आकार का चीरा लगाकर उस पर चर्म एवं रक्तरंजित ताजा मांस रखें। 'सासृग्वा पिशितं' से ताजा मांस अथवा जीवित पशु या पक्षी का संकेत हो सकता है। इसीलिए ताजे मांस के स्थान पर जीवित चूजों का प्रयोग किया जाता है।

२. दागना

सर्पदष्ट स्थान को लोहे की लाल-गरम सलाख से दागते हैं। दहन-कर्म शास्त्रोक्त उपचार है। सुश्रुत संहिता (कल्पस्थान, अध्याय ५, श्लोक ५) में बताया गया है-

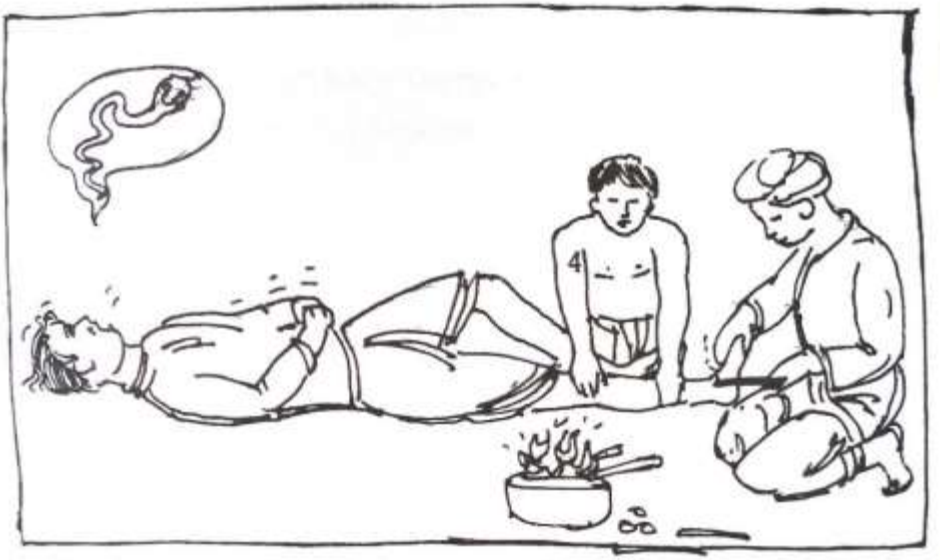

"*दहेदंशमथोत्कृत्य यत्र बन्धो न जायते*" अर्थात् यदि दष्ट स्थल पर रक्त संचार रोकने वाली प ट्टी नहीं बांधी जा सकती तो वहां चीरा लगाकर उस सर्पदष्ट स्थल को जला दें।

३. मंत्र

शरीर से विष को निकाल बाहर करने के लिए कुछ मंत्रों का पाठ करते

हैं। सुश्रुतसंहिता (कल्पस्थान, अध्याय ५, श्लोक ८९) में कहा गया है, *"अरिष्टमपि मंत्रैश्च बध्नीयात् मंत्रकोविदः"* अर्थात् यदि विषाक्तता बहुत बढ़ी भी हुई हो, तो उसे मंत्रवेत्ता मंत्रों से नियंत्रित कर सकता है, और

देवब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ताः मंत्राः सत्यतपोमयाः।

भवन्ति नान्यथा क्षिप्रं विषं हन्युः सुदुस्तरम्।।

अर्थात् देवताओं और तपस्वियों द्वारा पठित मंत्र भयंकर से भयंकर विष को भी नष्ट कर सकते हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक स्रोतों से ऐसे संकेत मिलते हैं कि अनेक क्षेत्रों में स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं की अतिसमृद्ध परंपरा रही है। जैसे १९ वीं सदी के एक सर्वेक्षण में बंगाल के कुछ भागों में दाइयों और सांप काटे का इलाज करनेवाले स्थानीय स्वास्थ्य चिकित्सकों की संख्या के विषय में एक अंदाज मिल जाता है।

१८३६-३८ के दर्म्यान डब्लू.ऐडम नामक एक अंग्रेज ने बंगाल प्रेसीडेन्सी में देसी शिक्षण की स्थिति का अर्ध-सरकारी सर्वेक्षण करने का जिम्मा लिया। उसमें राजशाही जिले में देसी चिकित्सा विधि की स्थिति की समीक्षा करते हुए उसने लिखा है,"यहां की आबादी में वे लोग, जिन्हें काय-चिकित्सक कहा जा सकता है और जो देसी चिकित्सा व्यवसाय में दक्ष हैं, और जो कुल संख्या में १२३ हैं, जिनमें से ८९ हिन्दू और ३४ मुसलमान है।" इसके बाद वह फिर दो प्रकार के चिकित्सकों की चर्चा करता है, एक तो वे, जो संस्कृत जानते हैं, दूसरे वे, जो बंगला अनुवाद पर निर्भर करते हैं। वह कहता है-"देसी चिकित्सा के शिक्षित और अशिक्षित अभ्यासियों में एक ही अंतर देखा जा सकता है, कि जो शिक्षित हैं, वे मूलग्रंथों के आधार पर धड़ल्ले से सटीक नुस्खे लिखते हैं, जबकि अशिक्षित अभ्यासी शिथिल और असंतोषजनक अनुवादों के सहारे संदेह और अनिश्चय की स्थिति में लिखते हैं। मुख्य रूप से उनके उपचार की विधि एक ही है....।" वह आगे कहता है कि नेट्रोर में चेचक का टीका लगानेवाले २१ हैं और दाइयां २९७।अन्य संवर्गों के विषय में वह कहता है,"दूसरी श्रेणी का सबसे बड़ा

वर्ग सांपों के मदारियों का है, जिनकी संख्या अकेले नेट्टोर पुलिस सब डिवीजन में ही ७२२ से कम नहीं। ऐसा गांव जिनमें एक भी मदारी नहीं, इने-गिने हैं और किसी-किसी गांव में तो दस-दस मदारी पाए गये हैं।"

चेचक का पारंपरिक टीका

यह हमारे लिये आश्चर्य का विषय है कि इस सूची में चेचक का टीका लगानेवालों के २१ नाम हैं।

चेचक की रोकथाम के लिए टीका लगाने की पारंपरिक भारतीय विधि के विषय में आज तक अधिकांश लोग अनजान हैं। १८वीं सदी से पहले उत्तर और दक्षिण भारत के विशाल भूभागों में चेचक का टीका लगाने की प्रथा प्रचलित थी। यद्यपि इस प्रथा के विषय में अनेक संदर्भ मिलते हैं, पर इनमें जे. हालवेल का

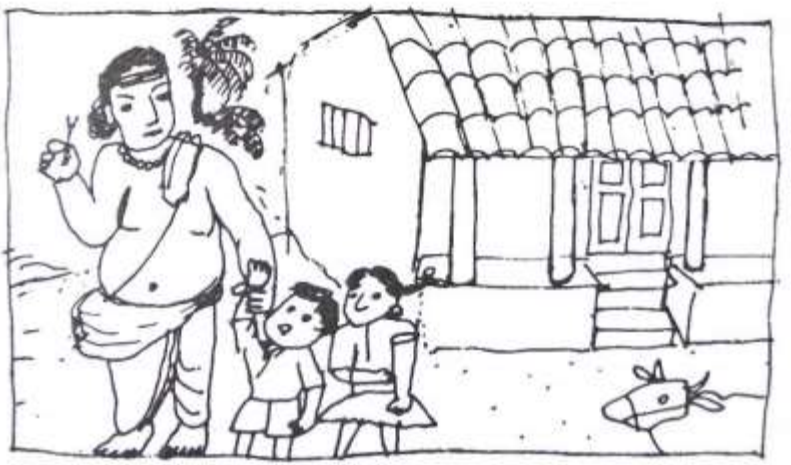

बंगाल में चेचक का पारंपरिक टीका

"बंगाल के अनेक जिलों के गांवों के ब्राहाणों का एक विशिष्ट और धर्मार्पित वर्ग प्रति वर्ष टीका लगाने के लिए निकलता है। वे तीन या चार की टोली में निकलते हैं और हर साल महामारी के फैलने के निश्चित समय से पहले टीके लगाते हैं। बंगाल में ये प्रायः गर्मी की शुरुआत होने से पहले, फरवरी से मार्च के बीच पहुंचते हैं। हर क्षेत्र के निवासियों को उनके आने के समय का पता रहता है और वे एक महीने पहले से ही पथ्यापथ्य नियमों का दृढ़ता से पालन करते हैं। तदनुसार वे मछली, दूध और घी से परहेज करते हैं।

"टीका लगानेवाले घर-घर पहुंचते हैं और केवल उन्हीं लोगों को टीके लगाते हैं, जिन्होंने पथ्यापथ्य नियमों का पालन किया होता है। प्रायः पुरुषों को कलाई और कोहनी के बीच बांह के बाहरी भाग में और स्त्रियों को कोहनी और कंधे के बीच टीका लगाते हैं। टीका लगानेवाला व्यक्ति पहले एक कपड़े से आठ-दस मिनट तक उस स्थान को रगड़ लेता है और फिर एक छोटे-से यंत्र से चुभोने की क्रिया तब तक करता है जबतक कि खून की एक बूंद उभर न आये। तदनंतर वह एक दुहरे कपड़े से चेचकीय पदार्थ से आविष्ट एक छोटा वस्त्रखंड निकाल कर उस पर दो बूंद गंगाजल डाल कर रक्त की उभरी बूंद पर रखकर प ट्टी बांध देता है। यह प ट्टी छह घंटे तक बंधी रहती है। मछली, दूध और घी का परहेज टीका लगाने के दिन से एक महीने तक आगे करना पड़ता है।"

आगे डा. हालवेल कहते हैं, "जब उपर्युक्त उपचार का दृढ़ता से पालन कर लिया जाता है तो यह सुनाई पड़ना एक अचंभे जैसा ही है कि लाखों में कोई एक संक्रमण का शिकार हो गया या टीका लगाना बेकार गया।"

टीका लगाने का यंत्र

विवरण ब्यौरेवार है। उसने १७६७ में यह प्रथा जिस रूप में देखी, उसी रूप में उसका वर्णन लिख रहा है (देखें, बाक्स आइटम)।

लगभग उसी समय जबकि अंग्रेजों ने इस प्रथा को देखा डा. ई. जेनर ने १८९८ में गाय के गोबर से चेचक का टीका तैयार कर दिया था। १८०४ में वैक्सीन टीके के महा-अधीक्षक ने पारंपरिक विधि से टीका लगाना निषिद्ध कर दिया (बंगाल में टीके की प्रगति संबंधी प्रतिवेदन, कलकत्ता, १८०४)। भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद राजस्व तंत्र ढह चला। विविध विशेषज्ञों और कार्यकर्ताओं के वे समस्त संवर्ग, जो राज्य-संरक्षण में पनप रहे थे, सहसा अपना योगक्षेम स्वयं वहन करने के लिए बाध्य हो गये। १९वीं सदी और २०वीं सदी के प्रारंभ में हमारे देश में चेचक की महामारी का प्रकोप बार-बार उठता रहा है। इसकी जड़ में जाने पर हम संभवतः पायेंगे कि एक ओर तो शासन की ओर से टीका लगाने की सार्वदेशिक व्यवस्था का पिछड़ापन और उपेक्षा थी और दूसरी ओर शासन ने देसी टीका विधि को हर आश्रय से वंचित करके गुप्त रूप से ही चलाने के लिए बाध्य भी कर दिया था।

स्थानीय स्वास्थ्य की शल्य परंपराएं

हममें से अधिकतर लोग इसी विचार के आदी हैं कि शल्य चिकित्सा यानी सर्जरी आधुनिक काल की देन है। यह अत्यंत पेचीदी है और आधुनिक यंत्रों और तकनीकों के कारण ही संभव हुई है। यह हममें से कुछ के लिए सचमुच आश्चर्य की बात हो सकती है कि शल्यचिकित्सा और शल्य की तकनीकों की स्थानीय परंपराएं सदा अस्तित्व में रही हैं। प्रसूति, नेत्र-विज्ञान और प्लास्टिक सर्जरी (ऊतक चिकित्सा) तक के विविध क्षेत्रों में इन तकनीकों के अस्तित्व का स्वयं इतिहास साक्षी है।

धर्मग्रंथों एवं चिकित्सा ग्रंथों में ऐसे अनेक दृष्टांत हैं जिनसे ज्ञात होता है कि प्रसूति-काल या उसके आस-पास पेट की दीवार और गर्भाशय के बीच चीरा लगाकर प्रसूति कराने का आपत्कर्म सदा से व्यवहार में होता आ रहा है [१४]।

सुश्रुतसंहिता आदि चिकित्सा ग्रंथों के अतिरिक्त बौधायन-पितृमेध

सुश्रुत द्वारा वर्णित यंत्र

(शल्योपयोगी कुंठित यंत्र)

1. अंगुलि यंत्र

2. अर्शो यंत्र

3. अश्मार्यहरण यंत्र

4. बस्तियंत्र

5. भृंगमुख यंत्र

6. दर्व्याकृति शलाका

7. गर्भशंकु यंत्र

8. जलोदर यंत्र

9. काकमुख यंत्र

10. कन्कमुख यंत्र

11. पुक्षुटि यंत्र

12. नाडी यंत्र

13. ऋक्षमुख यंत्र

14. सदांश यंत्र

15. शंपीपथ यंत्र

16. शलाका यंत्र

17. शरपुंखा मुख

18. सिंहमुख यंत्र

19. श्वानमुख यंत्र

20. शंकु यंत्र

21. स्नुही यंत्र

22. ताल यंत्र

23. तारक्षुमुखयंत्र

24. वृक मुख यंत्र

25. व्रणपृक्षालन यंत्र

26. व्याघ्रमुख यंत्र

27. युग्मशंकु यंत्र

28. योन्यावेक्षण यंत्र

सुश्रुत द्वारा वर्णित शस्त्र

(शल्योपयोगी तेज धार वाले उपकरण)

1. अर्धधार शस्त्र ithra

2. अतिमुख शस्त्र

3. अर शस्त्र

4. बदीश शस्त्र

5. दंत शंकु शस्त्र

7. करपात्र शस्त्र

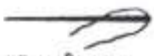

15 सूची शस्त्र

16. त्रिकूर्चक शस्त्र

6. एशनी शस्त्र

17. उत्पलपत्र शस्त्र

8. अंतर्मुख कर्तरिका

18. बेतस्पत्र शस्त्र

9. कृतरिका शस्त्र

10. कुशपत्र शस्त्र

19. बृहिमुख शस्त्र

11. मंडलाग्र शस्त्र

12. मुद्रिका शस्त्र

20 वृद्धपत्र शस्त्र

13. नख शस्त्र

14. शरारीमुख शस्त्र

लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति (लोस्वापसंस)
के
प्रमुख प्रकाशन

प्रकाशन का नाम	अवधि	मूल्य	पता
समाचार पत्रक (अंग्रेजी)	चार मास पर	निःशुल्क सदस्यों के लिए	लोस्वापसंस पो. बा. नं. ७१०२ कोयंबटूर – ६४१ ०४५
कैपाउंड फार्म्यूलेशन	आवश्कतानुसार	२५ रु.	"
कैपाउंड फार्म्यूलेशन	आवश्यकतानुसार	२५ रु.	"
मातृ एवं शिशु स्वास्थ्योपयोगी औषधीय पौधे	"	"	"
प्राथमिक स्वास्थ्य में लाभकारी वनौषधियां भाग – १	"	"	"
प्राथमिक स्वास्थ्य में लाभकारी वनौषधियां भाग – २	"	"	"
विष चिकित्सा पर हस्तपुस्तिका	"	१५ रु.	"
जीवनीय (हिन्दी) (लोक स्वास्थ्य की पत्रिका)	त्रैमासिक	३० रु.	लोस्वापसंस, ई – III/ २५०, सेक्टर – एच अलीगंज, लखनऊ – २२६०२० (उ.प्र.)
जीवनीय (अंग्रेजी)	"	"	"
समाचार पत्रक (हिन्दी)	चार मास पर	निःशुल्क	"
तुलसी वनौषधि पर आकर्षक सचित्र पोस्टर		पाँच रु.	"
मोनोग्राफ स्थानीय स्वास्थ्य परंपराएं (मोनोग्राफ) (हिन्दी)	चार मास पर	३० रु.	"
भारतीय चिकित्सा पद्धति में पोषण भाग –१			पी.पी.एस.टी. फाउंडेशन
मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य भाग – १	"	"	२९, चार मेन रोड, गांधीनगर, अड्यार, मद्रास – ६०००२०
मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य भाग –२	"	"	"
मर्म चिकित्सा	"	"	"

सूत्र और वैखानस गृह्यसूत्र जैसे धर्मग्रंथों में भी इनका वर्णन मिलता है। कुछ प्रेक्षकों ने वर्तमान और इसके पूर्व की सदी में भी भारत में सीजरियन सेक्शन नामक शल्यक्रिया से जीवित शिशु-जन्म की रपट लिखी है। यह भी पता चला है कि स्थानीय परंपराओं में शल्यक्रिया से मोतियाबिंद के निकालने की भी परंपराएं रही हैं। १७९२ में डा. हेलेनस स्काट ने भारत में प्रचलित अनेक वैज्ञानिक परंपराओं की आंखों देखी रपट इंगलैंड की रायल सोसाइटी के अध्यक्ष के नाम भेजी थी, उससे उद्धृत अंश यहां प्रस्तुत है।

"अपारदर्शी होने के बाद नेत्रकांच को निकालने की क्रिया वे अत्यंत कुशलतापूर्वक करते आ रहे हैं और वे पथरी को उसके स्थान पर तोड़ते आ रहे हैं, जैसा कि यूरोप के लोग अब कर रहे हैं।"

लेकिन संभवतः प्लास्टिक सर्जरी ही वह क्षेत्र है जिसमें भारत की परंपराएं निर्विवाद रूप से अग्रणी रही हैं और दुनिया के अनेक भागों में शल्यकला को इसने प्रभावित भी किया है। शल्य क्रिया द्वारा नाक के प्रतिरोपण का विस्तृत वर्णन पहली बार सुश्रुतसंहिता में मिलता है। भारत में प्राचीन काल में व्यवहृत दोनों

विधियां–फ्लैप विधि तथा मीडियम फोरहैड फ्लैप विधि–आज के सर्जनों तक में लोकप्रिय है। ईंट बनानेवाले और कुम्हार जाति के लोग संपूर्ण नासिका की पुनःरचना विधि का अभ्यास किया करते थे। कम से कम १५वीं सदी से तो महाराष्ट्र में फोरहेड फ्लैप विधि का व्यवहार होता चला आ रहा है। कांगड़ा के कुछ परिवार भी इस कला में दक्ष हैं और कांगड़ा के हकीम दीनानाथ ने, जो कि कुम्हार जाति के हैं, बीसवीं सदी में यह शल्यक्रिया की थी। आधुनिक काल में १७९४ में ब्रिटिश प्रेक्षकों द्वारा प्रकाशित एक रपट से लोगों का ध्यान संपूर्ण नासारचना की भारतीय विधि की ओर गया। तभी से पश्चिम की दिलचस्पी इस क्षेत्र में जागी।

संप्रति शल्य चिकित्सा की परंपरागत रूढ़ियों के प्रचलित होने के विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है, हालांकि दन्तचिकित्सा और नेत्रचिकित्सा के क्षेत्रों में कुछ परंपराएं अभी जीवंत प्रतीत होती हैं।

लोक स्वास्थ्य परंपराएं और भारतीय चिकित्सा पद्धतियां

जैसा कि हमने ऊपर दर्शाया है, विविध क्षेत्रों में ज्ञान और क्रिया की ढेरों परंपराएं है, जो सहस्त्रों वर्षों के प्रेक्षण और अनुभव का प्रतिनिधित्व करती है। जबकि किसी एक क्षेत्र में जैसे चिकित्सा विशेषज्ञों या विद्वान व्यावसायिकों का समूह हो सकता है, शेष लोगों में भी ज्ञान शिथिल एवं बिखरे रूप में पाया जाता है। भारतीय परंपरा का एक सामान्य सिद्धांत–यह प्रतीत होता है, जो हर प्रकार की विद्या पर लागू होता है कि ज्ञान अनेक प्रकार से प्रकट हो सकता है,/ होता है तथा संप्रेषित भी होता है और प्रत्येक प्रकार के ज्ञान–प्रसार से कोई न कोई उद्देश्य सिद्ध होता है।

इस प्रकार जो आम तस्वीर उभरती है, वह यही प्रतीत होती है कि किसी भी क्षेत्र के शास्त्रीय ग्रंथों में सामान्य व्यापक सिद्धांतों का प्रतिपादन और किसी निश्चित संदर्भ में, जैसे देश के किसी विशिष्ट भूभाग में, उनके अनुप्रयोग का ब्यौरा भी हो सकता है। पर विविध अलग–अलग संदर्भों या क्षेत्रों में ज्ञान हावी होता है और उसकी विशिष्ट स्थिति पर आधारित अभिव्यक्ति भी होती है और उस विशिष्टता के आधार पर सामान्य सिद्धांतों का अनुकूलन, सुधार और अस्वीकृति

'लोक' और 'शास्त्रीय'

उदाहरणार्थ, गीत और साहित्य को उनके रचना-विधान और बोधगम्यता के आधार पर पांच वर्गों में-नारिकेल पाक, इक्षुपाक, कदलीपाक, द्राक्षापाक और क्षीरपाक-बांटा गया है। जिसे समझना अति कठिन है, उसे नारिकेलपाक कहते हैं। नारियल कोखाने से पहले उसका आवरण उतारना पड़ता है, फोड़ना पड़ता है, फिर नारियल का कस निकाल कर खाद्य के साथ मिलाना पड़ता है।

दूसरा इक्षुपाक है यानी गन्ने जैसा, जिसका रस निकालने के लिए पेरना पड़ता है।

तीसरा कदलीपाक है, यानी केला जिसे छीलना भर पड़ता है। द्राक्षापाक और भी सरल है। और सबसे सरल क्षीरपाक यानी दूध है जो कि सभी उम्र के लोगों के लिए स्वास्थ्यर्धक भी है। इसी प्रकार संस्कृत साहित्य को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है, प्रभुसंमित, सुहृत्संमित और कांतासंमित। प्रभुसंमित साहित्य राजा और गुरु की भांति है, जो नियम का उल्लंघन करने पर दंड देता है (जैसे, वेद के उपदेश)। सुहृत्संमित साहित्य मित्र की तरह हमें कर्तव्य का बोध कराता है (जैसे पुराण) और कांतासंमित साहित्य प्रियतमा की तरह दृष्टांतों से और परिस्थिति के अनुसार जिद करके या रिझा-मनाकर अपनी बात मनवा लेता है (जैसे, काव्य)।

ध्यान देने की बात यह है कि संप्रेषण के उपर्युक्त प्रकारों में कोई क्रमपरंपरा नहीं है, कोई एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकता और न ही कोई किसी से श्रेष्ठ है। प्रत्येक एक खास आवश्यकता की पूर्ति करता है और किसी न किसी संदर्भ में सबसे उपयोगी है।

भारतीय चिकित्सा पद्धतियों और लोक स्वास्थ्य परंपराओं के विषय में, शास्त्रकार क्या कहते हैं ? चरक का कहना है-

औषधीर्नामरूपाभ्यां जानन्ते हाजपा वने।

अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः।। (च.सू.अ. १, श्लो. १२०-१२१)

भेड़-बकरियां और गाय चरानेवाले और अन्य वनवासीजन औषधियों को नाम और रूप से अच्छी तरह जानते हैं। सुश्रुत कहते हैं-

गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः। (सु.सू.अ. ३६, श्लोक १०)

गाय पालनेवाले, तपस्वी, शिकारी और अन्य जंगलों में विचरण करनेवाले और कंदमूल खाकर जीवनयापन करनेवाले औषधियों का सम्यक् परिचय जानते हैं।

तक हो जाती है। यह बात संभवतः काय चिकित्सा के दृष्टांत से अच्छी तरह समझी जा सकती है, जहां काय चिकित्सा के शास्त्रीय ग्रंथ स्वयं इस बात की समीक्षा करते हैं।

चरकसंहिता जैसे शास्त्रीय ग्रंथ द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव, इन छह कारकों के आधार पर औषध की क्रिया के सामान्य सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं। वे अनेक व्याधियों के उपचारों का वर्णन और विशिष्ट औषधों की सूची भी प्रस्तुत करते हैं। स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार, इनमें आवश्यक सुधार किया जा सकता है। किसी भी औषध योग में, किसी अप्रधान घटक को उसके शास्त्रोक्त प्रतिनिधि से अथवा रस, वीर्य आदि सिद्धांत के आधार पर चुने हुए समकक्ष द्रव्य से बदल दिया जा सकता है। इस प्रकार की समझ के सामंजस्य में समय-समय पर वैद्यगण पाठ्य-पुस्तक और नियमावली प्रस्तुत करते रहते हैं, जिसमें किसी क्षेत्र-विशेष में उपलब्ध और उस क्षेत्र की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त द्रव्यों पर आधारित नुस्खे दिये होते हैं। उदाहरणार्थ राज मृगांक नामक ग्रंथ में १२९ नुस्खे दिये हैं और ग्रंथ की भूमिका में संपादक आयुर्वेदाचार्य नटराजशास्त्री ने लिखा है, कि यह संकलन तमिलनाडु के किसी वैद्य का प्रयास मालूम होता है, क्योंकि इसमें दिये गये नुस्खे तमिलनाडु में सहज उपलब्ध बूटियों पर आधारित हैं। न केवल इस प्रकार के नुस्खे को सूत्रबद्ध करना आसान है, क्योंकि घटक द्रव्य सहज उपलब्ध होते हैं, बल्कि चरक के कथनानुसार *'यस्य देशस्य यो जन्तुः तस्य तज्जौषधं हितम्'* अर्थात् जो जिस इलाके का जीव है उसे उसके इलाके की दवा हितकर है, यह उस

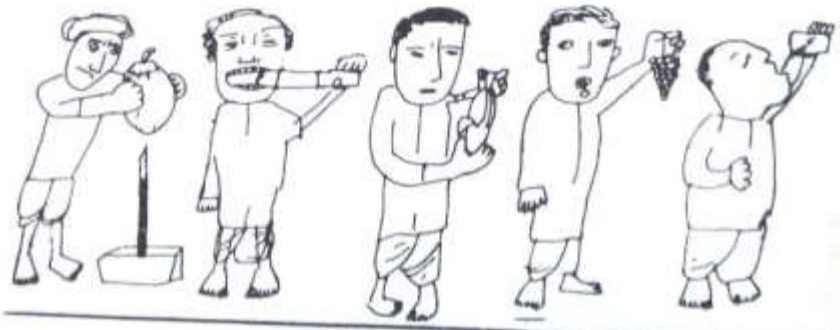

क्षेत्र के लिए अत्यधिक उपयुक्त भी है।

तथ्य यह है कि हर हाल में संदर्भ और प्रसंग की विशेषता के आधार पर ही औषध-व्यवस्था की जानी चाहिए। हमारे अनेक शास्त्रीय ग्रंथों में इस बात पर जोर दिया गया है, कि शास्त्रीय सिद्धांतों को नीतिवाक्य और दिशा-निर्देशक समझा जाय और उनका अनुपालन बगैर सोच-विचार के विधि-विधान मान कर न किया जाए।

शास्त्रोक्त उपचारों को भी, रसादि सिद्धांतों का मर्मज्ञ वैद्य संदर्भ देखकर, रोगी के लिए स्वास्थ्यप्रद न होने से त्याग देता है और इसके विपरीत, ऐसे उपचारों का सहारा लेता है, जो रोगी के लिए लाभप्रद हों, भले ही शास्त्रों में उनका उल्लेख न हो।

देसी चिकित्सा पद्धतियों का वैज्ञानिक आधार

पिछले अध्याय में हमने विविध स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं और उनके व्यापक विस्तार की रूपरेखा प्रस्तुत करके आयुर्वेद के प्रकाश में उनके तर्काधार को समझने का प्रयास किया था। अब प्रश्न यह उठ सकता है कि आयुर्वेद और अन्य भारतीय चिकित्सा पद्धतियां कहां तक वैज्ञानिक हैं। इस अध्याय में हम भारतीय चिकित्सा पद्धतियों के वैज्ञानिक आधार के प्रश्न के विषय में कुछ विस्तार से चर्चा करना चाहेंगे।

हम जिन प्रमुख बिंदुओं पर जोर देना चाहते हैं, वे निम्न है :–

- विभिन्न सभ्यताओं ने विज्ञान, तकनीक और ज्ञान की पद्धतियों का विकास किया है, जिनमें उनकी अपनी विशेषताएं, दुनिया को देखने की दृष्टि और अपने समाज के मूल्यों की छाप देखी जा सकती है।
- वैज्ञानिक चिंतन और वृत्ति की कोई पद्धति अद्वितीय अथवा सार्वभौम नहीं हो सकती –हर पद्धति अपने प्रभाव क्षेत्र में बराबर मान्य और कारगर है।
- आयुर्वेद (और अन्य भारतीय चिकित्सा पद्धतियां) वह वैज्ञानिक ज्ञानसंपदा है, जो शत–प्रतिशत वैज्ञानिक है।

इस अध्याय में हम पहले उन धारणाओं, मिथ्याग्रहों और संकल्पनाओं की जांच करेंगे, जो भारतीय चिकित्सा पद्धतियों और आधुनिक चिकित्सा पद्धति के कतिपय पक्षों में वैषम्य को लेकर आजकल सुप्रचलित हैं। उसके बाद हम आयुर्वेद के वैज्ञानिक आधार का विस्तार से परीक्षण करना चाहेंगे।

क्या आधुनिक चिकित्सा पद्धति अनोखी और सार्वभौम है ?

तुलनात्मक अनुसंधान के क्षेत्र में जो कार्य अब तक हुआ है वह लगभग न के बराबर है। भा.चि. पद्धतियों के विषय में अधिकांश विचार इस आधार पर व्यक्त किये गये प्रतीत होते हैं, कि आधुनिक विज्ञान के परीक्षण-नियम के मानदंडों से किसी भी वस्तु को समझा या विश्लेषित किया जा सकता है और उस पर टिप्पणी की जा सकती है।

उदाहरण के लिए निम्न प्रश्नोत्तर पर विचार करें जो एक राष्ट्रीय चिकित्सा संस्थान [४] द्वारा प्रकाशित पत्रिका से उद्धृत हैं :-

प्रश्न :-नींबू "ठंडा" आहार है या गरम ?

उत्तर :-यह सच है कि लोगों में यह धारणा आम है कि कुछ आहार द्रव्य "ठंडे" और कुछ "गरम" हैं। पर इस प्रकार के वर्गीकरण का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। इस प्रकार की धारणाओं को लेकर खाद्य-चयन को सीमित करना अभीष्ट नहीं है.....

इस प्रकार की स्थापना से अपने आप दूसरा प्रश्न उत्पन्न होता है।

प्रश्न :-क्या यह आसान और उचित नहीं होगा, कि भा.चि.पद्धतियों के बताये प्रयोगों की सत्यता की जांच आधुनिक अनुसंधान की तकनीकों से की जाये ?

उत्तर :-आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के मानदंडों और उसकी विशिष्ट पदावली में भा.चि.प. को समझना निश्चय ही संभव होगा, किंतु क्या यह अभीष्ट और हर समय संभव है ? इस प्रश्न पर भा.चि.प. के अभ्यासियों को मिल-बैठकर चर्चा करके तय करना होगा। इस विषय में पिछले अनुभवों से हमें मालूम है, कि जब पाश्चात्य चिकित्सा आयुर्वेद (अथवा अन्य गैरपश्चिमी

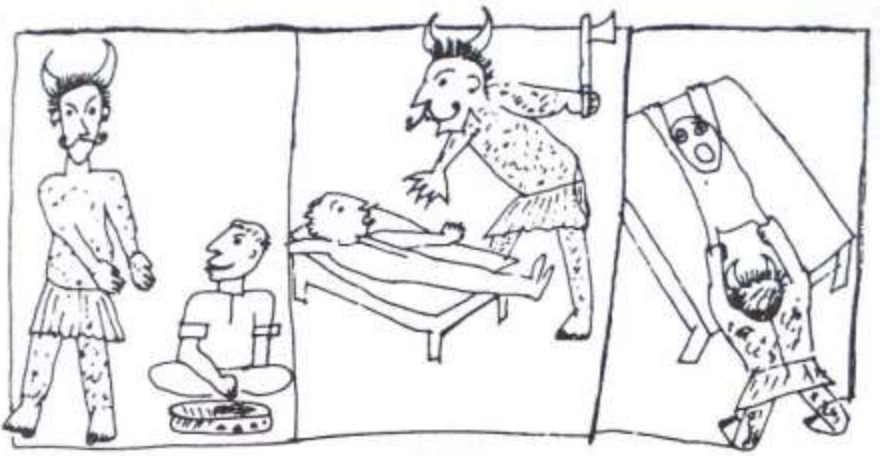

चिकित्सा पद्धति) की जांच करती है, तो वह जांच के लिए ऐसा विषय या पक्ष उठाने की चेष्टा करती है, जो दुनिया को देखने के उसके दृष्टिकोण और बृहत्तर बोध के अनुरूप होता है। अक्सर इस प्रकार की प्रक्रिया अंत में आधुनिक औषध भंडार में कुछ औषधोपचारों की वृद्धि पर खत्म हो सकती है। जिससे पा.चि.प. की समृद्धि होती है और आयुर्वेद की दरिद्रता बढ़ती है।

इस बात का ज्वलंत उदाहरण सर्पगंधा (रौवलफिया सर्पेंटिना) का आधुनिक रासायनिक अध्ययन है। इस अध्ययन के फलस्वरूप सर्पगंधा से रेसरपीन नामक एक ऐल्कलायड निकाला गया। बाद में पता चला कि रेसरपीन के अनेक पार्श्व प्रभाव (साइड एफेक्ट्स) भी हैं, जो बूटी निर्मित औषधि में नहीं हैं। इसके साथ ही व्यापारिक मात्रा में रेसरपीन प्राप्त करने के लिए सर्पगंधा जड़ की ऐसी लूट मची, कि आज वह दुर्लभ हो उठी है। इसलिए आधुनिक अनुसंधान तकनीकों का प्रयोग करने में पर्याप्त सावधानी चाहिए।

प्राचीन और आधुनिक सिद्धांतों को एक दूसरे में फिट करने की कोशिश भी निरर्थक होगी। वैद्यरत्न पंडित शिव शर्मा इस प्रसंग में एक यूनानी पौराणिक कथा सुनाते हैं। यह प्रोक्रस्टीज की कहानी है, जो जंगल में आये हर अतिथि का हार्दिक स्वागत करता था। मगर बाद में वह अतिथि को इस शर्त पर सोने के लिए बाध्य करता था, कि उसे बिस्तर से छोटा या बड़ा नहीं होना है। ऐसा हर मेहमान जो बिस्तर के चौखट में फिट नहीं होता था, अपने मेजबान राक्षस द्वारा आवश्यकतानुसार काट-छांट या खींच-तान किया जा कर मौत के घाट उतारा जाता था। आधुनिक चिकित्सा के प्रकाश में आयुर्वेद के प्राचीन सिद्धांतों की व्याख्या प्रोक्रस्टियन-पंथी से कुछ कम नहीं सिद्ध होगी।

आधुनिक विज्ञान की प्रकृति संबंधी कुछ भ्रांतियां

आधुनिक विज्ञान की प्रकृति और उपलब्धियों के विषय में अनेक मिथ्या धारणाएं संप्रति प्रचलित हैं। हमने नीचे कुछ ऐसी धारणाओं का उल्लेख करके उन पर संक्षेप में विचार किया है।

प्रश्न :- परन्तु यदि कोई मान ले कि विज्ञान की अनेक परंपराएं हैं, तो भी, क्या यह सत्य नहीं है, कि आधुनिक विज्ञान ने विविध अन्य वैज्ञानिक परंपराओं को पीछे छोड़ दिया है ? क्या यह एक तथ्य नहीं है कि वह किसी भी अन्य वैज्ञानिक परंपरा की अपेक्षा तथ्यों, घटनाओं और प्रेक्षणों के बृहतर निकाय को व्याख्यायित कर सकता है ?

उत्तर :-यह इस बात पर निर्भर करेगा, कि कोई किन तथ्यों पर ध्यान केंद्रित करना चाहता है। अक्सर इस बात की अनदेखी कर दी जाती है, कि "तथ्य" उतने वस्तुनिष्ठ नहीं होते, जितना कि उन्हें प्रस्तुत किया जाता है। न केवल तथ्यों को वैज्ञानिक सिद्धांतों द्वारा व्याख्यायित किया जा सकता है बल्कि इन्हीं सिद्धांतों से अनेक तथ्य उत्पन्न भी हो जाते है। किसी भी वैज्ञानिक परंपरा में जो चीज विकास की एक अवस्था में सिद्धांत होती है, वह अक्सर परवर्ती काल में "तथ्य" समूह में समाविष्ट कर ली जाती है।

जब दो परंपराएं मिलती हैं तो तथ्यों और सिद्धांतों का इस प्रकार का संघर्ष

अक्सर हो जाता है। उदाहरणार्थ, मेट्रियो रिच्ची नामक एक ईसाई मिशनरी १६वीं सदी के अंत में चीन की यात्रा पर गया। वहां से उसने अपने घर को लिखे एक पत्र में चीनियों की अनेक मूर्खतापूर्ण धारणाएं लिख भेजी थीं। इनमें प्रमुख बात यह थी कि चीनी ठोस खगोलीय पिंडों में विश्वास नहीं करते। ठोस खगोलीय पिंडों का यह सिद्धांत इतने लंबे समय तक यूरोप में प्रचलित रहा कि यह उनके "तथ्य भंडार" में शामिल हो चुका था [२]। पर कुछ ही समय बाद स्वयं यूरोपवालों ने ठोस खगोलीय पिंडों की धारणा त्याग दी।

यह सत्य है कि एक वैज्ञानिक सिद्धांत के ढांचे में कुछ घटनाओं की व्याख्या सरल हो जाती है। लेकिन साथ ही कुछ घटनाएं ऐसी भी होंगी, जिन्हें किन्हीं अन्य वैज्ञानिक सिद्धांतों से सरलतर रूप में समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि हम आधुनिक चिकित्सा के दृष्टिकोण से यह समझना चाहें कि क्यों कुछ शारीरिक व्यायाम मानसिक स्थिति को अत्यधिक प्रभावित कर पाते हैं, तो मामला बहुत उलझ जायेगा। मगर इसे आयुर्वेद और योग की दृष्टि से बड़ी आसानी से समझा जा सकता है, क्योंकि शरीर और मन के परस्पर संबंध और उसके अनुपालन में हमारी सांसों के योगदान के संबंध में उनकी अलग अन्तर्दृष्टि है।

प्रश्न :- यदि भा. चि.पद्धतियां अपने आप में उच्च सामर्थ्य और प्रतिष्ठा वाली परिपूर्ण ज्ञानराशि हैं, तो फिर उनमें आधुनिक चिकित्सा विज्ञान सरीखी खोजें, जैसे रक्तपरिसंचरण, तन्त्रिका-तंत्र में विद्युत सक्रियता, रोग उत्पन्न करनेवाले सूक्ष्मजीव, क्यों नहीं की गयी ?

उत्तर :-सत्रहवीं शताब्दी में आधुनिक विज्ञान के उदय और विश्वव्यापी उपनिवेशवाद के प्रारंभ के साथ ही यह धारणा व्यापक हो गयी है, कि आधुनिक विज्ञान सार्वभौम है, अर्थात् उस के नियम और सिद्धांत देशकाल की सभी परिस्थितियों में, सभी घटनाओं की व्याख्या करने में समर्थ हैं और साथ ही इस अनुपम विधि ने प्रकृति को समझने और व्याख्यायित करने की सभी पूर्व-विधियों को पीछे छोड़ दिया गया है। हालांकि यह शुद्ध, अपेक्षाकृत नवीन और तथ्यों से अपुष्ट केवल मिथक है। प्राकृतिक घटनाओं को समझने की अनेक विधियां और

मार्ग हो सकते हैं, जो अपने प्रभाव–क्षेत्र में मान्य भी हो सकते हैं। साहित्य और संगीत जैसे अन्य क्षेत्रों में इसे अच्छी तरह परखा और समझा गया है।

उदाहरणार्थ, हालांकि सभी मानेंगे, कि मोजार्ट और तानसेन महान संगीतज्ञ और सर्जक थे, लेकिन कोई यह प्रश्न पूछना सार्थक न मानेगा–"यदि तानसेन इतना महान संगीतज्ञ था, तो उसने सिंफोनियों और सोनैटाओं की रचना क्यों नहीं की ?" लेकिन विज्ञान और प्रविधि के क्षेत्र में हम ऐसे ही प्रश्नों में उलझ कर रह जाते हैं, क्योंकि हम आधुनिक विज्ञान और प्रविधि की अद्वितीयता और सार्वभौमता के मिथक से ग्रस्त हैं।

प्रश्न :-यदि हम यह मान भी लें, कि भिन्न-भिन्न समय में, भिन्न-भिन्न सभ्यताओं द्वारा विकसित अनेक विज्ञान और प्रविधियां आज मौजूद हैं, तो भी, उन सबको भा.चि.पद्धतियों (आयुर्वेदआदि) के प्रकाश में समझने की क्या आवश्यकता है ? क्या आधुनिक वैज्ञानिक विधि के सिद्धांतों के प्रकाश में इन्हें जांचना ज्यादा आसान और ज्यादा अच्छा न होगा ?

उत्तर : जैसा कि हमने पहले बताने का प्रयत्न किया है, कि ज्ञान और व्यवहार के प्रति अलग-अलग विज्ञानों का दृष्टिकोण भी अलग-अलग है और इतिहास के किसी क्षण में, विज्ञान की एक परंपरा, संभव है दूसरी परंपरा की अच्छाई और बुराई का मूल्यांकन करने की स्थिति में न हो। १९४५ और १९७० के बीच के २५ वर्षों के दौरान, नवजात शिशु को मां का दूध पिलाने से हतोत्साहित किया जाना इसका उत्कृष्ट उदाहरण है, जबकि माताएं अनादिकाल से नवजात शिशु को अपना दूध पिलाती आ रही हैं।

आज पूर्णकालिक शिशुओं के पोषणार्थ मां के दूध की उत्कृष्टता को लगभग सारे संसार में मान्यता मिली हुई है। परंतु यह स्थिति हमेशा नहीं रही है। इस शताब्दी के प्रारंभ में जब बोतल का आगमन हुआ, तो उससे शिशु फार्मूला कारोबार को बड़ा प्रोत्साहन मिला। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तक गाय के दूध से बने पदार्थों को "शिशुओं के समुचित, स्वास्थ्यवर्धक और सभ्य" आहार के रूप में व्यापक मान्यता मिली। युद्ध के बाद शिशु के पोषण के लिए बोतल का दूध पिलाने का प्रचार, न केवल शिशु फार्मूला उद्योग द्वारा ' आधुनिक' (अतएव बेहतर) विधि के रूप में किया गया, बल्कि अस्पतालों, नर्सों, पोषाहार विशेषज्ञों और समाचार पत्रों द्वारा भी किया गया। (इसका विस्तृत विवरण एम.जी.श्चैब के 'द राइज ऐंड फाल आफ दि बेबीज बॉटल' शीर्षक निबंध में प्रकाशित है, जिसे कि जर्नल आफ ह्यूमन न्यूट्रिशन , वाल्यूम-३३ (१९७९) के २७६-२८२ पृष्ठों पर देखा जा सकता है)।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति से लेकर बीसवीं सदी के सातवें दशक की शुरुआत होने तक शिशु फार्मूला आहार संसार के अधिकांश औद्योगीकृत देशों में

मां के दूध को अपदस्थ करता रहा। १९५५ और १९७१ के दर्म्यान के सर्वेक्षणों में, अमरीका में बच्चों को अपना दूध पिलानेवाली माताओं की संख्या निरंतर घटती रही। हालांकि औद्योगीकृत पश्चिमी देशों में यह घटना पहले घटी, मगर इस अवधि में विकासशील देशों में भी मां का दूध पिलाने में कमी आने के साक्ष्य मिले हैं।

अब पाश्चात्य औद्योगीकृत देशों में, मां का दूध पिलाने से विमुखता की प्रवृत्ति उलट चुकी है। आधुनिक चिकित्सा व्यवसाय की परिक्रमा पूरी हो चुकी है और अब वह इस निष्कर्ष पर पहुंची है, कि नवजात शिशु के लिए मां के दूध का जवाब नहीं। सर्वेक्षणों के अनुसार १९७१ से आठवें दशक में आते-आते, अमरीकी माताओं द्वारा स्तनपान २५ से बढ़कर ६० प्रतिशत तक पहुंच चुका था। विरोधाभास यह है, कि विकासशील देशों में इस अवधि में भी स्तनपान में गिरावट आयी है।

उपर्युक्त घटना च क्र का कुल परिणाम यह रहा, कि हम एक पीढ़ी तक स्तनपान को पिछड़ा और घटिया मानने के बाद, अब यह सुन रहे हैं कि स्तनपान नवीनतम फैशन है। अगर हम अपने वैद्यों की मानते, तो इस प्रकार की गतानुगतिकता से बच सकते थे।

एक तथ्य अपनी जगह आज भी बरकरार है, कि जीवन के अनेक क्षेत्रों में आज भी हमारी रूढ़ियों पर इस प्रकार का आक्रमण जारी है। हमारी जनता में अनेक स्वास्थ्य परंपराएं व्यापक रूप से प्रचलित हैं, जैसे नियमित तेल-मालिश की आदत अथवा बीमारी की हालत में खाने में परहेज के नियमों का पालन, (अर्थात् पथ्यापथ्य की धारणा) जबकि आज भी डाक्टर लोग इस प्रकार की धारणाओं को अवैज्ञानिक और त्याज्य बताते हैं।

शब्दावली और तुलना

दो परस्पर भिन्न विज्ञानों के तुलनात्मक अध्ययन में संवाद के लिये उचित शब्दावली और भाषा का होना अनिवार्य है [३]।

उदाहरणार्थ, हम प्रायः देखते हैं कि तंत्रिका-तंत्र अथवा तंत्रिका-बल से वात, पाचक तथा अन्य एंजाइमों, हारमोनों और ऊष्मा-नियामक क्रियाविधि से पित्त का समीकरण किया जाता है। अधिक से अधिक कुछ मामलों में इस प्रकार का समीकरण भौतिक स्तर पर कार्यक्षम हो सकता हैं, पर यह अन्य स्तरों पर और कुछ मामलों में तो, भौतिक स्तर पर भी नहीं चलता। उदाहरण के लिए, बोध-प्रक्रिया पित्त का धर्म है, जिसमें सत्वगुण की प्रबलता परिलक्षित होती है। पाश्चात्य क्रिया शरीर के अंतर्गत बोध-प्रक्रिया तंत्रिका-तंत्र (प्रमस्तिष्क मेरु) के अंतर्गत होगी, जिसका समीकरण वात से किया जाता है। यह एक ऐसा मामला है, जिसमें वात और पित्त का उपर्युक्त समीकरण मान्य नहीं है। समीकरण के अमान्य होने का एक कारण यह भी है, कि समीकृत पदार्थों के वर्गीकरण के सिद्धांत, दो मूलतः भिन्न पद्धति के हैं। जब पाश्चात्य क्रिया शारीर तंत्रिका ऊतक, पेशी ऊतक, उपकला ऊतक आदि की बात करता है, तो यह वर्गीकरण मुख्यतः घटक अंगों की संरचना के आधार पर रचना शारीरात्मक होता है। वात, पित्त और कफ के त्रयक में वर्गीकरण मुख्यतः जीव-विज्ञानीय है और तीन गुणों से सह-संबंधित क्रियाओं पर आधारित है।

इन दो वर्गीकरणों में एक दूसरे के प्रत्येक शब्द का पर्याय ढूंढ़ने की कोशिश की व्यर्थता को, मद्रास जैसे किसी शहर के प्रत्येक क्षेत्र को वहां के व्यावसायिक या सांप्रदायिक आबादी से जोड़कर देखने के प्रयास की व्यर्थता द्वारा दर्शाया जा सकता है। प्रत्येक क्षेत्रीय प्रभाग में हिंदू, मुस्लिम, पारसी, ईसाई आदि अनेक सांप्रदायिक तत्वों का समावेश होता है। इन प्रभागों में आपस में बड़ी विविधता हो सकती है। किसी एक प्रभाग में मद्रास के सभी संप्रदायों के लोग हो सकते हैं और अन्य प्रभागों में, संभव है कुछ कम संप्रदाय के लोग हों। इसी प्रकार हर क्षेत्र में अध्यापक, वकील, डाक्टर, मिस्त्री आदि विविध व्यवसाय के प्रतिनिधि हो सकते हैं और इन क्षेत्रों में उन-उन क्षेत्रों के निवासी व्यावसायिक तत्वों के वर्गों और उनकी संख्या के अनुसार विविधता हो सकती है।

यहां एक अन्य प्रश्न और उठता है-

प्रश्न :-हम पाते हैं कि आधुनिक विज्ञान नव-आविष्कृत आंकडों की प्रतिक्रिया में, नयी समस्याओं का समाधान करने के प्रयास में प्रतिदिन विकास कर रहा है, परंतु हमें भा.चि. पद्धतियों में ऐसी कोई गतिविधि नजर नहीं आती।

उत्तर:- भा.चि. पद्धतियों और आधुनिक चिकित्सा की दृष्टियों में जो मौलिक अंतर है, पहले उसे समझ लेना चाहिए। रोगों के अध्ययन और वर्गीकरण की आयुर्वेदीय पद्धति ऐसी है, जो हमेशा काम आए। इसके विपरीत, आधुनिक पद्धति में मूल्यांकन और परिवर्तन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहे, ऐसी व्यवस्था है। रोग हेतु विवेचन और पदार्थ-विश्लेषण के क्षेत्र से एकाध उदाहरण प्रस्तुत करके इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, पूछा जा सकता है-

प्रश्न :- हम आयुर्वेद को वैज्ञानिक तंत्र कैसे मान लें, जबकि यह २००० वर्ष पूर्व प्रतिपादित सिद्धांतों से चिपकी हुई है, जबकि दूसरी ओर हमें बचपन में सिखाये गये वैज्ञानिक सिद्धांत आज गलत माने जा रहे हैं ?

उत्तर :- आयुर्वेद के एक प्रख्यात विद्वान उत्तर देते हैं–"यह तकरार उस मछुआरिन की सी है, जो अपनी पड़ोसिन जौहरानी से कहती है, 'हमें तो आज की पकड़ी मछली आज ही न बिकने पर कल ही फेंक देनी पड़ती है। यह कितनी गलत बात है कि तुम अपने बाबा के जमाने का हीरा आज बेचने की कोशिश करती हो।"

दूसरे शब्दों में, सभी समय में लागू हो सकनेवाले संवर्गों का विकास करना भारतीय चिंतन की अपनी विशेषता है।

भारतीय विश्लेषणात्मक चिंतन की इस चारित्रिक विशेषता का

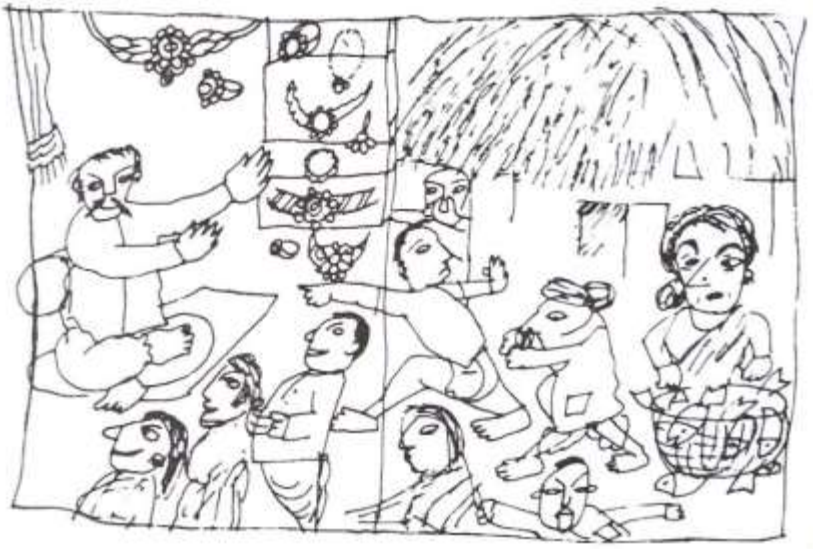

आश्चर्यजनक नमूना हेतुविज्ञान विषय में मिलता है। आयुर्वेद और ऐलोपैथ दोनों के हेतुविज्ञान यह मानकर चलते हैं कि रोगों की उत्पत्ति बाहर के कारकों से होती है, लेकिन जब वे ऐसे कारकों का विश्लेषण करने लगते हैं, तब दोनों के दृष्टिकोण के अंतर को स्पष्ट करनेवाली विशेषताएं स्पष्ट हो जाती हैं। इस प्रसंग में एक उपमा

काम की हो सकती है। मान लीजिये, हमें भारत पर हुए विदेशी हमलों का वर्गीकरण करना है। यह वर्गीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है। एक वर्गीकरण इस आधार पर होगा, कि हमला स्थल मार्ग से हुआ, जलमार्ग से हुआ या आकाश मार्ग से हुआ। दूसरा वर्गीकरण आक्रमणकारियों की जाति के आधार पर होगा, कि वे यूनानी, सीरियाई, मुगल या यूरोपीय थे। पहला वर्गीकरण सार्वभौम और सार्वकालिक है, क्योंकि आक्रमण के मार्ग ये तीन ही हो सकते हैं। हमला इनमें से किसी एक, दो या एकाधिक रास्तों से किया जा सकता है। परंतु दूसरा वर्गीकरण केवल वर्तमान और अतीत पर लागू हो सकता है, और वह भी जितनी जानकारी है वहीं तक, और यदि भविष्य में उक्त जातियों के अतिरिक्त किन्हीं अन्य जातियों के द्वारा हमले हुए, तो हमें वर्गीकरण में नये स्तंभ जोड़ने होगे, जबकि पहले वर्गीकरण में संभावित सभी भविष्य के हमले सहज ही उक्त तीन में से इस या उस स्तंभ के अंतर्गत आ जायेंगे, जिन्हें एकबारगी बनाकर हमेशा के उपयोग के लिए रख दिया गया है।

पदार्थ के विश्लेषण के विषय में आयुर्वेद का दृष्टिकोण इससे

मिलता-जुलता है। पंचमहाभूतों की शब्दावली में पदार्थ की आयुर्वेदिक परिभाषा और विश्लेषण व्यक्तिनिष्ठ अर्थात् पदार्थ और इंद्रियों के संपर्क से होनेवाले इंद्रिय ज्ञान से संबद्ध है। जबकि पदार्थ के घटक रासायनिक तत्वों के अनुसार किया जानेवाला पाश्चात्य विश्लेषण वस्तुपरक है। दार्शनिक दृष्टि से, व्यक्तिनिष्ठ विश्लेषण से, हर युग में मान्य संपूर्ण सिद्धांत के प्राप्त होने की सुविधा और संतोष प्राप्त होता है। पश्चिम के वस्तुपरक विश्लेषण में, ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक अनुसंधान के फलस्वरूप नये तत्व मिलते जायेंगे, त्यों-त्यों रासायनिक परमाणुओं की सूची में उनके लिए नयी जगह बनानी होगी। व्यक्तिनिष्ठ विश्लेषण ने हमेशा के लिए पांच खाने बना रखे हैं और इनमें से किसी न किसी खाने में अतीत, वर्तमान और भविष्य की सारी चीजें तुरंत समा जायेंगी। अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में मान्य सिद्धांतों का स्पष्ट कथन, भारतीय विश्लेषणात्मक चिंतन की एक सामान्य विशेषता है। हेतुविज्ञान में भारतीय चिंतन की व्यापकता विशेष रूप से आश्चर्यजनक है।

प्रश्न :-आधुनिक चिकित्सा में अनेक विशेषताएं हैं, जो विज्ञान निकाय के तत्व हैं। जैसे, प्रायोगिक पद्धति, मात्रात्मक मापन और प्रेक्षण की परिशुद्ध विधियां, अभिनव घटनाओं और परिवर्तनशील तथ्यों का समावेश जिनमें हो सके, ऐसे सिद्धांतों का विकास आदि। परंतु पारंपरिक भारतीय विज्ञानों में यह बात नजर नहीं आती।

उत्तर :- एक ओर तो कसौटियों पर आम सहमति आवश्यक है, जिससे किसी ज्ञानराशि को विज्ञान की संज्ञा दी जा सके और इस बात की जांच होनी चाहिए, कि क्या पारंपरिक भारतीय विज्ञानों में ये कसौटियां पायी जाती हैं। साथ ही हमें इनमें से कुछ क्षेत्रों की जांच करनी चाहिए, जिनमें आधुनिक और पारंपरिक दृष्टिकोणों में अंतर प्रतीत होता है।

यह सत्य है, कि जब वैज्ञानिक समुदाय के समक्ष कोई नया वैज्ञानिक सिद्धांत लाया जाता है, तो उसके साथ ही, उस सिद्धांत को पुष्ट करनेवाले तमाम आंकड़े भी प्रस्तुत कर दिये जाते हैं, ताकि जो भी चाहे, उनकी छानबीन कर सके।

पर समय बीतने के साथ-साथ, इनमें से कुछ अति प्रसिद्ध सिद्धांत, तथ्यराशि में आत्मसात् हो जाते हैं और सिद्धांत को पुष्ट करनेवाले मूल प्रेक्षण दुरूह हो जाते हैं और उनके सुराग कठिनाई से मिलते हैं। प्रायः वैज्ञानिक इतने से ही संतुष्ट हो जाते हैं, कि उनके सिद्धांत को वैज्ञानिक समुदाय ने स्वीकार कर लिया और जब भी उसने सिद्धांत का सत्यापन करना चाहा, तो सिद्धांत सही सिद्ध हुआ। जैसे, इस तथ्य को लें, कि अम्ल नीले लिटमस को लाल और क्षार लाल लिटमस को नीला कर देता है। इसे सत्य मान लिया गया है और आधुनिक काल में किसी ने भी, उन मूल आंकड़ों या विधि को देखना शायद ही आवश्यक समझा हो, जिनके आधार पर यह फार्मूला बना। आम तौर पर वैज्ञानिक समुदाय द्वारा मान लिया जाना और जांच करने पर सही पाया जाना, प्रायः पर्याप्त होता है।

अति प्राचीनकाल से चले आ रहे, भारतीय चिकित्सा पद्धतियों के बहुत सारे सिद्धातों पर भी यह बात लागू होती है। व्यक्तिगत अनुभव में इसकी जांच निरंतर चल रही है, जबकि उन तक पहुंचने की विधि नेपथ्य में चली गयी है। उस नजरिये को ढूंढ़ निकालने और पुनरुज्जीवित करने के लिए भा.चि.पद्धतियों के अभ्यासी समुदाय को परस्पर अतिशय व्यापक और गहरी चर्चा करनी चाहिए। परंतु इसके कुछ पहलू आधुनिक नजरिये से स्पष्ट ही अलग प्रतीत होते हैं।

प्रायोगिक विधि

समस्या को उसके पर्यावरण से अलग करना, आधुनिक प्रयोगशाला विधि का मूल तत्व है। इसका उद्देश्य, उसके और प्रकृति के बहुत सारे कारकों के बीच के तमाम अंतर्संबंधों को तिरोहित करके समस्या को यथासंभव न्यूनतम नियंत्रणीय पैरामीटरों के रूप में परिणत कर देना है [४]। इसके बाद पैरामीटरों में हेर-फेर करके (प्रायः एक बार में एक ही पैरामीटर में) तंत्र पर उसके प्रभाव का अध्ययन किया जाता है।

इसके विपरीत पारंपरिक पंथ, समस्याओं को उनके समग्र रूप में, उनके समस्त अंतर्संबंधों और जटिलताओं के साथ, हल करने का प्रयास करता है। समस्याओं को उनके प्राकृतिक परिवेश में हल करने की यह विधि, संतुलित हल प्रदान करने में सक्षम प्रतीत होती है। पारंपरिक भारतीय वैज्ञानिक दुनिया को उसकी

समग्रता में देखने की व्यावहारिक बुद्धि अपनाते प्रतीत होते हैं। व्यावहारिक बुद्धि की अनेकरूपता में विद्यमान मौलिक एकता को नष्ट करने की अपेक्षा वे उसे व्यवस्थित और परिशुद्ध बनाने का प्रयास करते प्रतीत होते हैं। चरक के अनुसार, विज्ञान युक्ति पर निर्भर करता है। युक्ति अर्थात् बुद्धि, जो एक ऐसी घटना का साक्षात्कार करती है, जो अपने घटक विविध कारणों की परस्पर-क्रिया से घटी होती है। इसका अर्थ यह भी है कि चूंकि घटना के समस्त कारणों को जान लिया गया है, अतः सही समय और स्थान पर युक्ति के प्रयोग से उचित पदार्थों और क्रियाओं को एकत्र कर लिया जायगा। इसी प्रकार पारंपरिक पद्धतियां सैद्धांतिक सूत्र रचना के समय भी जीवन का विच्छेदन या जीवन में कोई बड़ा परिवर्तन करने के बजाय, निरोगी जीवन के उपायों की तलाश करती हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि पारंपरिक विज्ञान सचमुच विस्तृत और सूक्ष्म अवलोकन की अतिविशाल राशि पर आधारित है, लेकिन संभवतः उसमें (आधुनिक प्रयोगशाला के वजन की) प्रयोग-परंपरा की कोई स्पष्ट प्रतिवस्तु नहीं है।

मापन तथा परिमाणन

हमारे पारंपरिक विज्ञानों में मापन और परिमाणन सचमुच मौजूद हैं, लेकिन उनका स्वरूप एतद्विषयक आधुनिक धारणा से कुछ अलग है। पारंपरिक चिकित्सा के अधिकांश मानदंड व्यक्ति के लिए साधारणीकृत हैं। जैसे, किसी व्यक्ति की लंबाई अथवा उसके अंगों की लंबाई नापने की इकाई उसी व्यक्ति की अपनी उंगली है, न कि मानक अंतर्राष्ट्रीय मीटर की तरह व्यक्ति से अलग कोई ऐच्छिक मानदंड। वस्तुतः ऐसी साधारणीकृत इकाइयां न केवल लंबाई मापने के लिए हैं, बल्कि आयतन और समय तक के मापन के लिए हैं।

योग में समय को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, कि वह व्यक्ति के लिए साधारणीकृत हो उठा है। योगचिंतामणि में काल की मात्रा को निद्रित व्यक्ति के एक श्वासचक्र, अर्थात् एक बार सांस लेने-छोड़ने में लगे समय के रूप में परिभाषित किया गया है।

परिमाणन का उपयोग

हालांकि मापन का अपना महत्व है, किन्तु परिमाणन का महत्व सर्वोपरि

समग्रता में देखने की व्यावहारिक बुद्धि अपनाते प्रतीत होते हैं। व्यावहारिक बुद्धि की अनेकरूपता में विद्यमान मौलिक एकता को नष्ट करने की अपेक्षा वे उसे व्यवस्थित और परिशुद्ध बनाने का प्रयास करते प्रतीत होते हैं। चरक के अनुसार, विज्ञान युक्ति पर निर्भर करता है। युक्ति अर्थात् बुद्धि, जो एक ऐसी घटना का साक्षात्कार करती है, जो अपने घटक विविध कारणों की परस्पर-क्रिया से घटी होती है। इसका अर्थ यह भी है कि चूंकि घटना के समस्त कारणों को जान लिया गया है, अतः सही समय और स्थान पर युक्ति के प्रयोग से उचित पदार्थों और क्रियाओं को एकत्र कर लिया जायगा। इसी प्रकार पारंपरिक पद्धतियां सैद्धांतिक सूत्र रचना के समय भी जीवन का विच्छेदन या जीवन में कोई बड़ा परिवर्तन करने के बजाय, निरोगी जीवन के उपायों की तलाश करती हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि पारंपरिक विज्ञान सचमुच विस्तृत और सूक्ष्म अवलोकन की अतिविशाल राशि पर आधारित है, लेकिन संभवतः उसमें (आधुनिक प्रयोगशाला के वजन की) प्रयोग-परंपरा की कोई स्पष्ट प्रतिवस्तु नहीं है।

मापन तथा परिमाणन

हमारे पारंपरिक विज्ञानों में मापन और परिमाणन सचमुच मौजूद हैं, लेकिन उनका स्वरूप एतद्विषयक आधुनिक धारणा से कुछ अलग है। पारंपरिक चिकित्सा के अधिकांश मानदंड व्यक्ति के लिए साधारणीकृत हैं। जैसे, किसी व्यक्ति की लंबाई अथवा उसके अंगों की लंबाई नापने की इकाई उसी व्यक्ति की अपनी उंगली है, न कि मानक अंतर्राष्ट्रीय मीटर की तरह व्यक्ति से अलग कोई ऐच्छिक मानदंड। वस्तुतः ऐसी साधारणीकृत इकाइयां न केवल लंबाई मापने के लिए हैं, बल्कि आयतन और समय तक के मापन के लिए हैं।

योग में समय को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, कि वह व्यक्ति के लिए साधारणीकृत हो उठा है। योगचिंतामणि में काल की मात्रा को निद्रित व्यक्ति के एक श्वासचक्र, अर्थात् एक बार सांस लेने-छोड़ने में लगे समय के रूप में परिभाषित किया गया है।

परिमाणन का उपयोग

हालांकि मापन का अपना महत्व है, किन्तु परिमाणन का महत्व सर्वोपरि

है। ऐसा प्रतीत होता है, कि भारतीय वैज्ञानिकों की मान्यता यह है, कि परिशुद्धता के लिए संख्याओं और तार्किक प्रतीकों का उपयोग अनिवार्य नहीं, अपितु प्राकृतिक भाषा के प्राविधिक उपयोग से परिशुद्धता हासिल की जा सकती है। उदाहरण के लिए, पाश्चात्य परंपरा में यूक्लिड की ज्यामिति आदर्श सिद्धांत का नमूना है। भारत में पाणिनि की अष्टाध्यायी सिद्धांत रचना का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मानी जाती है। भारतीय चिंतकों ने ऐसी विधि विकसित की है, कि प्राकृतिक संस्कृत भाषा के उपयोग से उच्च कोटि की परिशुद्धता और यथार्थता के साथ प्राविधिक निरूपण किया जा सके। संस्कृत भाषा में तर्क गणित, वेदांत आदि अत्यंत दुर्बोध और प्राविधिक विषयों पर चर्चाएं होती रहती हैं और ऐसे शोध प्रबंध भी लिखे जाते हैं।

वस्तुतः हाल के अनुसंधानों से संकेत मिला है, कि गणित, तर्कशास्त्र और कंप्यूटर विज्ञान जैसे अनेक क्षेत्रों में, प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र के बजाय, प्राकृतिक भाषा अर्थात् संस्कृत का प्रयोग करना श्रेष्ठ होगा [५]।

आयुर्वेद का वैज्ञानिक आधार

अभी तक हमने अपने को भा.चि.पद्धतियों के विषय में प्रचलित कुछ भ्रांतियों को दूर करने और उनके तथा आधुनिक चिकित्सा के गमन-पंथों के निर्णायक अंतरों को इंगित करने तक ही सीमित रखा। अब हम आयुर्वेद का उदाहरण लेकर भा.चि.पद्धतियों को वैज्ञानिक पद्धति के रूप में मान्यता दिलाने के लिए व्यवस्थित रूप से दावा प्रस्तुत करते हैं [६]

समाजशास्त्र, ज्ञानमीमांसा, अथवा इतिहास-लेखन आदि विविध दृष्टियों से आजकल का विज्ञान विषयक सारा पांडित्य इस मान्यता पर आधारित है, कि आधुनिक विज्ञान 'वैज्ञानिक' ज्ञान-पद्धति का आदर्श है। यदि इस कसौटी को स्वीकार कर लिया जाय, तो अपनी परंपरा में वैज्ञानिक ज्ञान देख पाने की संभावना खत्म हो जाती है, क्योंकि पाश्चात्य आधुनिक विज्ञान के सर्वांगसम कोई ज्ञान-पद्धति हमें अपने यहां दृष्टिगोचर न होगी। इस पक्षपात से अपने को मुक्त करने के लिए हमें पहले वह पक्षपात रहित कसौटी विकसित करनी होगी, जिसके आधार पर किसी ज्ञान-पद्धति को वैज्ञानिक कहा जा सके।

सौभाग्य से ऐसी कसौटी का विकास कठिन नहीं। इसके लिए हमें केवल पीछे मुड़कर स्कूली पाठ्यग्रंथों में दी गयी 'विज्ञान' की परिभाषा देखनी होगी। विज्ञान उस ज्ञान-राशि का नाम है, जो घटनाओं के प्रेक्षण और प्रेक्षणों द्वारा जांचे-परखे सैद्धांतिक ढांचे के अंतर्गत घटनाओं के वर्गीकरण पर आधारित है। अतः प्राचीन सभ्यता के विज्ञान के इतिहासकार को निम्न वर्गीकरणात्मक विशेषताओं से संपन्न ज्ञान-पद्धति की तलाश करनी चाहिए :-

वर्गीकरणात्मक कसौटियां

व१. प्रेक्षणात्मक आंकड़ों की पर्याप्त विशालता

व२. आंकड़ों के वर्गीकरण के लिए विस्तृत सैद्धांतिक ढांचा।

व३. सैद्धांतिक अटकलबाजी के वैधीकरण का आधार प्रेक्षण।

उपर्युक्त वर्गीकरण जाहिर है, कि निम्न ज्ञानमीमांसात्मक कसौटियों को मान कर चलता है :-

ज्ञानमीमांसात्मक कसौटियां

ज्ञा१. उपर्युक्त विधि वास्तविकता के विषय में जानकारी प्राप्त करने की वैध विधि है।

ज्ञा२. उपुर्यक्त रीति से अर्जित ज्ञान सदा नये आंकड़ों की रोशनी में संशोधनीय और मर्यादित हैं।

अतः विज्ञान के इतिहासकार को उपर्युक्त दो ज्ञानमीमांसात्मक कसौटियों के पक्ष में सुस्पष्ट अथवा ध्वनित प्रमाणों की खोज करनी चाहिए।

चूंकि उपर्युक्त ज्ञानमीमांसात्मक और वर्गीकरणात्मक कसौटियां नये आंकड़ों के संकलन और आत्मसात्करण से ज्ञान को सदा बढ़ानेवाली प्रक्रिया बनाती हैं, अतः इस प्रकार के ज्ञान का अर्जन सामूहिक क्रियाशीलता से ही संभव है। अतः यह सिद्ध करने के लिए कि किसी समाज में उपर्युक्त कसौटियों पर आधारित ज्ञान-तंत्र सचमुच फला-फूला, इतिहासकारों को व्यावसायिक समुदाय की मौजूदगी को दिखाना ही पड़ेगा। अतः उपर्युक्त वर्गीकरणात्मक ज्ञान मीमांसात्मक कसौटियों की सूची में इतिहासकार को निम्न समाजशास्त्रीय कसौटी जोड़नी होगी:

समाजशास्त्रीय कसौटियां

स१. समाज में उपर्युक्त अर्थों में ज्ञान-पद्धति के अभ्यासियों का एक व्यावसायिक समुदाय था, जिसके संचालन के लिए कुछ सामाजिक नियम थे।

यदि किसी प्राचीन सभ्यता के किसी ज्ञान निकाय में इतिहासकार को उपर्युक्त सारी विशेषताएं मिल जायें, तो वह निस्संकोच उसे वैज्ञानिक कह सकता है, भले ही वह ज्ञानविकास 'आधुनिक विज्ञान' के आदर्श में समाए अथवा नहीं। विज्ञान-व्यामोह ग्रस्त पांडित्य की वर्तमान परंपरा, जो केवल 'आधुनिक विज्ञान' को मानव जाति द्वारा उत्पादित 'वैज्ञानिक' ज्ञानतंत्र मानती है, भले ही इतिहासकार से असहमत हो। लेकिन किसी भी निष्पक्ष प्रेक्षक की दृष्टि में ऐसे ज्ञानतंत्र को 'वैज्ञानिक' कहलाने के समस्त अधिकार प्राप्त है।

वर्गीकरणात्मक कसौटियां

व१. अनुभूतिमूलक आधारः

आयुर्वेदीय पाठ्यग्रंथ अनुभूतिमूलक प्रेक्षणों को बहुत महत्व देते हैं। ग्रंथों में बतलाया गया है, कि किस प्रकार औषधों, विकृति-विज्ञानीय लक्षणों और शव-विच्छेदन द्वारा शरीर तक के आंकड़े संकलित करने चाहिए। और इन सभी पक्षों पर बेहद विशाल आंकड़े एकत्र किये गये हैं। केवल औषधों के आंकड़ों के मामले को ही लें, तो आयुर्वेद में शाक, पशु और खनिज इन तीन मूल के औषध बताये गये हैं। चरक, सुश्रुत और अष्टांगहृदय इन तीन संहिताओं में ही ६००-७०० औषधीय वनस्पतियों का उल्लेख है। वानस्पतिक औषधियों के संस्कृत नामों की संख्या (व्युत्पन्न नामों को छोड़कर) १९०० है। यहां पर यह बताना आवश्यक है कि चिकित्सा ग्रंथों में संपूर्ण पौधों की चर्चा नहीं है। इसके स्थान पर हमारे शरीर पर पौधों के विभिन्न अंगों और उनसे निर्मित पदार्थों के प्रभाव की चर्चा है। चरकसंहिता (सूत्रस्थान, अध्याय-१, श्लोक ७२-७३) में बताया गया है-

"जड़, छाल, मज्जा, निःस्राव, वृंत, रस, अंकुर, क्षार, दूध, फल, फूल, भस्म, तेल, कांटे, पतियां, कलियां, कंद और उपशाखाएं-ये वानस्पतिक पदार्थ औषधि है।"

जहां तक जांतव औषधियों का प्रश्न है, अकेली चरकसंहिता में १६५ प्रकार के जंतुओं का वर्णन है। औषध के काम में आनेवाले विभिन्न जांतव उत्पादों का नाम निर्देश करते हुए उसमें कहा गया है (सूत्रस्थान, अध्याय १, श्लोक ६८-६९), "शहद, दूध, पित्त, वसा, मज्जा, रक्त, मांस, मल, मूत्र, वीर्य, अस्थि, स्नायु, सींग, खुर, बाल और गोरोचन-जीवजगत के ये पदार्थ चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं।" इसके बाद चरक संहिता औषधि में व्यवहृत ६४ प्रधान खनिजों का उल्लेख करती है। अब हम ६००-७०० औषधीय वनस्पतियां और औषध के रूप में काम आनेवाले उनके विविध अंग, १६५ प्रकार के जीव तथा नाना औषधि के रूप में काम आनेवाले उनके अंगों और उत्पादों तथा ६४ प्रधान खनिज द्रव्यों को जोड़ लें और इनमें से प्रत्येक द्वारा बनायी जा सकने वाली औषधियों की कल्पना कर लें, तभी हम आयुर्वेदीय चिकित्सा के आधारभूत भेषजसंग्रह की विशालता का अनुमान कर सकते हैं। चरकसंहिता में ८४ प्रकार के शराब के अतिरिक्त ६०० रेचकद्रव्यों और ५०० क्वाथों की चर्चा है।

अनुभूतिमूलक प्रेक्षण पर आयुर्वेद की श्रद्धा इतनी है कि चरकसंहिता (विमानस्थान, अध्याय ११८, श्लोक १४) के अनुसार "बुद्धिमानों के लिए सारा संसार गुरु और मूर्खों के लिए शत्रु है।" साथ ही चरक और सुश्रुत दोनों दावे के साथ कहते हैं कि "चिकित्सा में उपयोग न हो सके, ऐसा कोई पदार्थ संसार में नहीं है।"

८२. अनुभूतिमूलक आंकड़ों के वर्गीकरण के लिए सैद्धांतिक ढांचा

मात्र इंद्रियानुभववाद से परे जाने के लिए अनुभूतिमूलक आंकड़ों को समझने की दृष्टि से सैद्धांतिक ढांचे की आवश्यकता के प्रति आयुर्वेद के चिकित्सक बहुत जागरूक हैं। वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पदार्थों के ज्ञान के अतिरिक्त भी कुछ आवश्यक अनुभव करते हैं। यह "कुछ" बौद्धिक अनुशासन अथवा "युक्ति" है। अतः वे साधिकार कहते हैं, "सफलता (चिकित्सा में) का चरम आधार युक्ति (तर्कसंगत अनुप्रयोग) है।" तर्कसंगत अनुप्रयोग में कुशल चिकित्सक केवल पदार्थों के अनुभूति मूलक ज्ञान से संपन्न वैद्य से सदैव श्रेष्ठ है। अथवा जैसा चरक कहता है (सूत्रस्थान, अध्याय १, श्लोक १२१-१२२), "केवल वनस्पतियों के नाम और रूप से परिचित व्यक्ति भेषजगुणविज्ञान का पूरा पंडित होने का दावा नहीं कर सकता। यदि वह व्यक्ति जो बूटियों का उपयोग और क्रियाएं तो जानता है, लेकिन उनके रूपों को नहीं जानता औषधिविज्ञानी कहला सकता है, तो फिर

उसका क्या कहना, जो बूटियों को वनस्पति विज्ञान, भेषजगुणविज्ञान आदि सभी दृष्टियों से जानता है।"

इस सैद्धांतिक सूत्रीकरण पर आधारित चिकित्सा (युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा) के प्रति अपनी घोषित अभिरुचि के अनुसार, औषधों और रोगों के वर्गीकरण और उन्हें समझने और रोगों को अच्छा करने की विधियां सुनिश्चित करने के लिए आयुर्वेदीय चिकित्सकों ने विस्तृत सैद्धांतिक ढांचा विकसित किया। यहां आयुर्वेद के सैद्धांतिक ढांचे की बारीकियों में जाने का अवसर नहीं है। यहां यह कह देना पर्याप्त है, कि यह ढांचा औषधों, रोगों, आहार, मि ट्टी की स्थिति आदि के विषयों में वैद्यों द्वारा संकलित विशाल आंकड़ों के वर्गीकरण और समझने के लिए पर्याप्त था।

व२. वैधीकरण का आधार

इस तथ्य के बावजूद कि वैद्यों ने चिकित्सा की समस्या के सैद्धांतिक सूत्रीकरण का इतना आग्रह किया, फिर भी उन्होंने हमेशा प्राक्कल्पना का अंतिम परीक्षण व्यवहारमें करने को वरीयता प्रदान की। जैसा कि चरकसंहिता का कथन है, (सूत्रस्थान, अध्याय १, श्लोक १३४) "श्रेष्ठ वैद्य वह है, जो व्यवहार में लोगों को रोग मुक्त कर सके।" अथवा "हम यह सब भलीभांति समझा पा रहे हैं, क्योंकि हम भलीभांति सब देख भी रहे हैं (सम्यक् उपदिशामः सम्यक् पश्यामश्चेति)।"

इसी प्रकार सुश्रुत कहते हैं, कि "विद्वान वैद्य को शुद्ध तर्कके आधार पर कभी औषधि की सामर्थ्य का परीक्षण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। प्रत्यक्ष निरीक्षण से ज्ञात होता है कि प्रत्येक औषधि में एक नैसर्गिक चिकित्सा क्रिया होती है। उदाहरणार्थ अंबष्ठ वर्ग की औषधियों में हजार तार्किक आधारों के रहने पर भी रेचन की क्रिया नहीं होगी।

ज्ञानमीमांसात्मक कसौटी

वैज्ञानिक ज्ञानतंत्र कहलाने के लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह स्पष्ट शब्दों में अपनी ज्ञानमीमांसात्मक स्थिति स्पष्ट करे । आधुनिक विज्ञान के किसी ग्रंथ में ऐसा बयान नहीं मिलेगा और उसके अधिकांश अभ्यासी अपने विज्ञान द्वारा अभिप्रेत ज्ञानमीमांसात्मक स्थिति के विषय में जानते होंगे, इसकी संभावना भी नहीं है। परंतु

जिस समाज में एकाधिक ज्ञानतंत्र को फलने-फूलने दिया गया हो, उसमें विविध ज्ञानतंत्रों की ज्ञानमीमांसात्मक स्थिति का स्पष्ट निरूपण अपेक्षित है। और यह बात दिलचस्प है कि आयुर्वेद के ग्रंथों में स्थितियों को स्पष्ट शब्दों में बताया गया है।

ज्ञा.१. पद्धति की वैधता में श्रद्धा

आयुर्वेदीय ग्रंथ अत्यंत जोरदार शब्दों में यह दावा करते हैं कि मानव के स्वास्थ्य के विषय में ज्ञानार्जन करने की उनकी विधि वैध है। चरक की घोषणा है, "जो वैद्य चिकित्सा के योग्य और अयोग्य रोगों के अंतर की जानकारी सहित समुचित चिकित्साज्ञानपूर्वक सही समय पर औषधोपचार प्रारंभ करता है, उसकी सफलता निःस्संदिग्ध है", साथ ही, "औषधोपचार से दूर होनेवाले रोगों में, औषध कभी प्रभावहीन नहीं हो सकते।" और, "जैसे कि कोई धनुर्विद्या का सतत अभ्यासी अचूक धनुर्धर धनुष उठाकर तीर चला दे, तो वह अवश्य ही समीपस्थ बड़े ल क्ष्य का वेध किये बिना नहीं रह सकता और अपने उद्देश्य में सफल रहता है, उसी प्रकार एक कुशल और साधन संपन्न वैद्य पूरी जांच के बाद चिकित्स्य रोग की चिकित्सा प्रारंभ करने पर रोगी को स्वास्थ्य लाभ कराने में सफल हुए बिना नहीं रहेगा।"

वास्तव में ग्रंथों में तो यहां तक कहा गया है, कि यथार्थ विधि के प्रयोग के बिना प्राप्त सफलता नितांत आकस्मिक है और उसे हतोत्साहित करना चाहिए। चरकसंहिता की घोषणा है, "अज्ञानी वैद्य अंधों अथवा बिना पतवार की नाव की तरह ज्ञानाभाव में कातर होकर टटोलता रहता है। जब उसे किसी ऐसे रोगी की चिकित्सा में आकस्मिक सफलता मिल जाती है, जिसकी आयु अभी शेष है (नियतायुष), तब वह पाखंडी कुवैद्य अपने में साहस का अनुभव करता है और फिर तो वह उन तमाम लोगों की अकालमृत्यु का कारण बनता है, जिनकी आयु सुनिश्चित नहीं है (अनियतायुष)।"

ज्ञा.२. सीमाओं की पहचान

यतः वैज्ञानिक विधि स्वयं आंकड़ों की निरंतर अभिवृद्धि और उनके संदर्भ में सैद्धांतिक सूत्रीकरण की जांच की अपेक्षा करती है, अतः ऐसी विधि पर आधारित ज्ञान-निकाय के लिए अनिवार्य है, कि वह किसी भी समय में उपलब्ध ज्ञान की सीमाओं को पहचाने। पाश्चात्य ज्ञानमीमांसात्मक परंपरा में, वैज्ञानिक ज्ञान की इन सीमाओं का, बीसवीं सदी के प्रारंभ होने के बाद से ही कुछ-कुछ जाना जा

सका है। ऐसी स्थिति में, इन सीमाओं को सुस्पष्ट परिचायक कथन आयुर्वेद में पढ़कर आश्चर्य होता है। वे प्रत्येक स्तर पर इन सीमाओं को पहचानते हैं।

(क) उपलब्ध ज्ञान की अनुप्रयोज्यता के अधिकार-क्षेत्र की सीमाएं : उपर्युक्त उदाहरणों में, चिकित्स्य और अचिकित्स्य रोगों में अंतर करने से यह पहचान साफ हो जाती है। वे यह मानने को तैयार हैं कि कुछ रोग चिकित्सा के योग्य नहीं और उन रोगों में उनकी औषधि प्रभावकारी न होगी। सुश्रुत कहते हैं, "इन निरीक्षणों के बाद वैद्यगण उन्हीं रोगों की चिकित्सा करने का प्रयत्न करेंगे, जो साध्य हैं और जिन रोगों में केवल उपशमन ही हो सकता है, उनमें केवल उपशामक उपाय करेंगे और ऐसे रोगों के इलाज में प्रवृत्त नहीं होंगे, जो इलाज के परे हैं।"

(ख) सैद्धांतिक उपकरण की पूर्णता की सीमाएं : वैद्यगण न केवल अपने विज्ञान की अनुप्रयोज्यता की सीमाओं को जानते हैं, बल्कि वे अनुभूतिमूलक आंकड़ों को वर्गीकृत करने और समझने के लिए विकसित सैद्धांतिक उपकरण की अपूर्णता को भी पहचानते हैं। जब वे केवल निरीक्षत गुणों के आधार पर सभी पदार्थों और उनकी क्रियाओं को वर्गीकृत करने में विफल होते हैं, तब वे 'विपाक' की श्रेणी को प्रस्तुत करते हैं– अर्थात् पाचन के उपरांत पदार्थ के गुणों में परिवर्तन। और आगे जब वे यह देखते हैं कि अब तक के विकसित सभी संवर्गों में मेल खाने वाले कुछ पदार्थ अपनी क्रिया में बेमेल हैं, तो वे 'प्रभाव' की संकल्पना उपस्थित करते हैं। देखिए, चरक प्रभाव के विषय में क्या कहते हैं (सूत्रस्थान, अध्याय २६, श्लोक ६–७), "जब रस, वीर्य और विपाक में समता होने पर भी दो पदार्थ अपनी क्रिया में वास्तव में भिन्न होते हैं, तो ऐसी भिन्नता प्रभाव के कारण मानी जानी चाहिए.....।" पर, प्रभाव का क्या तात्पर्य है ? चरकसंहिता बगैर लाग-लपेट के यह मान लेती है कि वह ज्ञान की जिस स्थिति का प्रतिनिधित्व कर रही हैं, उसके अनुसार प्रभाव वैद्यों की समझ के बाहर की बात है, *"प्रभावोचिन्त्य उच्चयते।"* नये आंकड़ों के समक्ष नये संवर्गों के गठन की यह तैयारी और वर्तमान सैद्धांतिक उपकरण की अपूर्णता को स्वीकार करने की मानसिकता वैज्ञानिक विधि का प्राण है, जो आधुनिक वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण में भी बिरले ही पायी जाती है।

(ग) पद्धति की अनुप्रयोज्यता के क्षेत्र की सीमाएं :–अनेक

ज्ञाननिकायों के प्रचलन-काल में फला-फूला आयुर्वेद, अन्य संदर्भों में दूसरी कार्यप्रणालियों को स्वीकार करता प्रतीत होता है। आयुर्वेदीय चिकित्सक अन्य कार्यप्रणालियों की कल्पना करते हैं, यह इस तथ्य से स्पष्ट है, कि जहां कहीं कोई ज्ञानमीमांसात्मक अथवा अन्य रीतिविधानात्मक दृढ़कथन है, वहां यह प्रतिबंध भी दिया रहता है, कि यह दृढकथन मात्र चिकित्सा के संदर्भ में ठीक पाया जायेगा। जैसे चरकसंहिता में कहा गया है, (सूत्रस्थान, अध्याय २६, श्लोक १०), "इस शास्त्र (अर्थात् चिकित्सा) में प्रत्येक पदार्थ को पांच तत्वों से निर्मित माना गया है....," और सुश्रुत में कहा गया है, "चिकित्सा के लिए अपने विविध रूपों में पदार्थों का ज्ञान ही प्रासंगिक है, क्योंकि चिकित्सा के संदर्भ में पदार्थों से परे किसी वस्तु की कल्पना अनुमन्य नहीं है।"

विशेष रूप से आज के संदर्भ में, जबकि प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में वैज्ञानिक विधि की निर्विवाद वैधता को नैतिक, सामाजिक आदि संदर्भों के लिए समर्पित समस्त दूसरे ज्ञाननिकायों की वैधता के लिए भी प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया गया है, यह बोध अत्यंत महत्वपूर्ण है, कि विभिन्न संदर्भों में विभिन्न 'कार्यप्रणालियों और संवर्गों' की आवश्यकता हो सकती है और वैज्ञानिक कार्यप्रणाली कुछ संदर्भों में विशिष्ट ज्ञानार्जन के लिए आवश्यक है।

सामाजिक कसौटी

अपने को संचालित करने के सुस्थिर नियमों से लैस सक्रिय वैद्य समुदाय की देन है, आयुर्वेद। पाठ्यक्रमों के अधिकांश भाग विभिन्न स्थलों पर आयोजित संगोष्ठियों की कार्यवाही का विवरण प्रतीत होते हैं, जिनमें विविध पंथों के चिकित्सकों ने भाग लिया था। समुदाय को संचालित करने के नियम सुस्पष्ट थे, यह तथ्य इस बात से स्पष्ट होता है, कि मूलपाठ में इस बात पर जोर दिया गया है, कि कुछ नियम चिकित्सा के सभी पंथों के लिए मान्य हैं,'सर्वतन्त्रसिद्धान्ताः'। उदाहरण के लिए चरक कहते हैं, "इन (निष्कर्षों) में वे सर्वसंमति से स्वीकृत हैं, जिनकी ख्याति उस विषय के प्रत्येक ग्रंथ में है जैसे, कारण हैं, रोग हैं और साध्य रोगों की चिकित्सा-विधियां हैं।"

वैद्यवर्ग एक व्यावसायिक समुदाय के गठन के लिए कितना उत्सुक था

यह चरक और सुश्रुत में वैद्यक का अध्ययन करने वाले व्यक्ति में अपेक्षित गुणों के सू क्ष्म वर्णन से स्पष्ट होता है। वैज्ञानिक समुदाय के चारों नियमों–सार्वभौमता, समुदायवाद, निःस्पृहता और संगठित संशयवाद–के साक्ष्यों को आयुर्वेद के ग्रंथों में देखा जा सकता है।

सार्वभौमवाद

सार्वभौमवाद का तात्पर्य यह है, कि समुदाय के सत्य के दावों को वैधीकरण के निर्वैयक्तिक एवं सुस्पष्ट कसौटी पर परखा जाए। जैसा कि हम पीछे देख आये हैं, आयुर्वेद ने ज्ञान के वैधीकरण की कसौटियों की सूची बना रखी है। और जैसा कि ऊपर उद्धृत छंद से स्पष्ट है, कि जिन लोगों को चिकित्सा व्यवसाय अपनाने की अनुमति दी गयी है, उनके लिए भी आयुर्वेद में स्पष्ट निर्वैयक्तिक गुणों का होना आवश्यक माना गया है।

समुदायवाद

संघवाद का मुख्य तात्पर्य यह है कि व्यवसाय करनेवालों में परस्पर सूचनाओं का मुक्त आदान–प्रदान चलता रहे। चिकित्सक समुदाय में परस्पर शास्त्रचर्चा पर जोर देकर आयुर्वेद में यह प्रक्रिया सुनिश्चित कर ली गयी है। चरक का परामर्श है, "एक वैद्य को दूसरे वैद्य से चर्चा अवश्य करनी चाहिए। *(भिषक् भिषजा सह सम्भाषेत)।*" इसकी आवश्यकता को रेखांकित करते हुए वे कहते हैं, "अपने विद्याविशेष के अभ्यासी के साथ शास्त्रार्थ करने से अपने ज्ञान को पूर्णता प्रदान करने में मदद मिलती हैं और अपने संदेह मिटते हैं... इसलिए प्राज्ञ लोग स्वशास्त्र के अंतर्गत चर्चा की दृढ़ संस्तुति करते हैं।"

निःस्पृहता

आयुर्वेद में आंकड़ों से विसंगत होनेवाले सिद्धांत को त्यागने तथा सैद्धांतिक ढांचे में नवीन संवर्गों को स्वीकार करने की तत्परता के अर्थों में निःस्पृहता आवश्यक मानी गयी है, यह बात प्रभाव के विषय में पूर्वोक्त चर्चा से सहज ही पुष्ट हो जाती है। परंतु चरकसंहिता निःस्पृहता का उपदेश देते हुए आजकल के किसी भी वैज्ञानिक समुदाय से आगे निकल जाती है। संहिता घोषित करती है,

"(चिकित्सकों में) सर्वोपरि वह है जो चिकित्सा-कर्म न धन के लिए करता है, न ऐहिक सुखों के लिए, बल्कि प्राणियों पर दयाभाव के कारणा करता है.... जो व्यक्ति परमकर्तव्य मानकर चिकित्सा-कला का प्रयोग जीवों पर सहानुभूति के कारण करता है, वह कृतकृत्य होकर परमसुख का भागी होता है।"

संगठित संशयवाद

आयुर्वेदीय ग्रंथ ऐसे ज्ञान के प्रति शंकालु हैं, जिसका अर्जन वैज्ञानिक विधि से नहीं किया जाता। यही कारण है कि जब चरकसंहिता में वर्णित एक संभाषा में राजर्षि वायोर्विद ने जीवन-रक्षा के लिए वायुदेव के नाना गुणों का वर्णन करते हुए वायु के महत्व पर बढ़-चढ़कर बोलना प्रारंभ किया, तो अन्यतम सभासद मरीचि ने उन्हें यह कहते हुए टोक दिया, " आपका कहना सच भी हो, तो चिकित्सा-शास्त्र में इन बातों से क्या लाभ हो सकता है ? यहां चिकित्सा-शास्त्र की आवश्यकता के अनुरूप बातें ही कही जाएं।" फिर भी, जैसा कि हम पहले जोर देकर कह आयें है यह शंकावाद ईमानदारी के साथ चिकित्सा के संदर्भ में सीमित है।

वहीं विज्ञान की आवश्यकताओं के लिए वह प्रांसगिक है। कोई वस्तु किसी संदर्भ में पवित्र नहीं यह कहने का रुझान वैद्यों में नहीं। इसीलिए चिकित्सा के संदर्भ में, जीवों के सामान्य प्राणिशास्त्रीय वर्गीकरण में गाय का विश्लेषण करते हुए, गोमांस के गुण और गाय के अन्य अंगों के औषध–गुणों का वर्णन करने के बाद, वे यह कहने में कोई विरोधाभास नहीं पाते कि "देवताओं, ब्राह्मणों, गायों, उपदेशकों और गुरुजनों की आराधना करनी चाहिए।"

उपसंहार

आधुनिक और पारंपरिक विज्ञानों के अंतर पर कुछ टीका–टिप्पणी से प्रारंभ करके हमने यहां आयुर्वेद के कतिपय पक्षों पर विचार किया। इनसे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अत्यंत परिशुद्ध मानकों के आधार पर विज्ञान की कार्यप्रणाली, ज्ञानशास्त्र और समाजशास्त्र की दृष्टियों से आयुर्वेद को 'विज्ञान' मानना ही पड़ेगा।

वर्तमान काल में स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं की प्रासंगिकता और क्षमता

पिछले पृष्ठों में हमने स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं के व्यापक प्रचलन को रेखांकित किया। जैसा कि हमने इंगित किया इनका क्षेत्र विराट् है। इनमें न केवल सामान्य व्याधियां, घरेलू उपचार, आहार-ज्ञान आदि है, बल्कि हड्डियां बैठाना, मर्म-चिकित्सा आदि विशेषज्ञता के क्षेत्रों का संपूर्ण फैलाव भी सम्मिलित है। अनेक कारणों से आज ये परंपराएं क्षीण अवस्था में हैं। इसके सबसे प्रमुख कारणों में उपनिवेशवाद का आगमन है, जिसके तहत हमारे समाज का सारा ताना-बाना प्रभावित हुआ और पिछली दो सदियों में इन परंपराओं की उपेक्षा हुई। आज भी इन परंपराओं और भा.चि. पद्धतियों को राजकीय सहायता और समर्थन अपेक्षाकृत बहुत कम मिलता है।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य योजना में भा.चि.पद्धतियों की भागीदारी

एक राष्ट्र के रूप में आज भी हममें इस बात की सजगता कम है कि हमारे यहां आधुनिक चिकित्सा के व्यावसायिकों से अलग भा.चि. पद्धतियों के अभ्यासियों का एक बहुत बड़ा वर्ग है, जो वैज्ञानिक ज्ञान के एक समग्र निकाय और दृष्टिकोण का प्रतिनिधि है।

उदाहरण के लिए नवंबर १९८५ [१] में स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा प्रकाशित "मैनुएल फॉर प्रैक्टीशनर्स ऑफ इंडियन सिस्टम्स ऑफ मेडिसन्स ऐंड होमियोपैथी" को लें। इसे लिखने का उद्देश्य भारतीय चिकित्सा पद्धतियों तथा होमियोपैथी के व्यावसायिकों को यह बताना है कि वे किन प्रकारों

से परिवार कल्याण तथा प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं में भाग ले सकते हैं। इस प्रतिवेदन के निम्न उद्धृत अंशों से इस तथाकथित 'भागीदारी' के अभिप्राय की एक झलक मिल जाती है।

जैसे, दूसरे अध्याय में (माता एवं शिशु देखभाल) यह कथन मिलता है कि "यदि आगे बताये गये चिन्हों और रोगलक्षणों में से एक भी पाया जाय, तो उस माता या शिशु को तत्काल स्वास्थ्य सेवक अथवा उपकेन्द्र के सुपुर्द कर देना चाहिए। इसके आगे रोगलक्षणों की तालिका दी गयी है, गर्भिणी स्त्रियों में सिरदर्द, खांसी, पैरों की सूजन आदि तथा नवजात शिशुओं में पेशाब की तकलीफ, दस्त, बुखार आदि। प्रतिरक्षीकरण विषयक तीसरे अध्याय में कहा गया है, कि इन अभ्यासियों को चाहिए,कि वे विविध उपायों से जैसे, "निश्चित रूप से बीमार अथवा चर्मरोगियों को अलग करके, जिससे कि स्वास्थ्य सेवक उनका परीक्षण कर सकें, प्रतिरक्षीकरण व्यवस्था में स्वास्थ्य सेवक की सहायता करें।" पोषाहार विषयक चौथे अध्याय में कहा गया है, " जब भी आप समाज में किसी न्यूनपोषित बच्चे को देखें, उसे स्वास्थ्य सेवक के पास भेजें।" इसी प्रकार "बच्चों, गर्भवती महिलाओं तथा परिचर्याधीन महिलाओं में, चिन्हों और रोगलक्षणों से रक्ताल्पता के रोगियों की पहचान कर उन्हे उपचारार्थ स्वास्थ्य-कर्मी (स्त्री / पुरुष) के हवाले कर दें" अथवा "जब भी आप किसी ऐसी गर्भवती अथवा परिचर्याधीन स्त्री को देखें, जिसमें पूर्वोक्त चिन्हों और रोगलक्षणों में से कुछ प्रकट हैं, तो आपको चाहिए कि उसे स्वास्थ्य-कर्मी के पास उपचार हेतु भेज दें। "सातवें अध्याय में कहा गया है कि मलेरिया, क्षय, कुष्ठ और अंधेपन के प्रत्येक रोगी को " समुचित जाँच एवं निदान के लिए प्राथमिक चिकित्सा केंद्र अस्पताल भेजें।"

वस्तुतः इस संपूर्ण पुस्तिका में एक भी ऐसा वाक्य नही मिलता कि देसी चिकित्सा के अभ्यासियों से, अपने व्यावसायिक प्रशिक्षण के अनुभवों के आधार पर कुछ करने की अपेक्षा भी की जाती है, यह पुस्तिका भा.चि.प. के अभ्यासियों को 'प्राविधज्ञ' मानती है, जिनका एकमात्र कार्य रोगियों को 'समुचित जाँच एवं निदान हेतु' स्वास्थ्य-कर्मी के अथवा प्राथमिक चिकित्सा केंद्र भेजना है।

क्या कहती है राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति ?

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति अभिलेख (१९८३) ने इस समस्या को यह कहकर रेखांकित किया है, " हमारे देश में आयुर्वेद, यूनानी , सिद्ध, योग, होमियोपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा आदि विभिन्न पद्धतियों के व्यक्तिगत अभ्यासियों का एक बहुत बड़ा समुदाय है। अब तक इस संसाधन का समुचित उपयोग नहीं हुआ है। इन विविध पद्धतियों के अभ्यासियों को उच्चस्तरीय स्थानीय स्वीकृति एवं आदर प्राप्त है, फलतः स्वास्थ्य संबंधी मान्यताओं और व्यवहारों पर इनका पर्याप्त प्रभाव है। अतः यह आवश्यक है कि चिकित्सा और स्वास्थ्य परिरक्षण की इन प्रत्येक विविध पद्धतियों को अपनी विशिष्टता के अनुरूप विकसित करने के लिए संगठित प्रयास प्रारंभ कर दिया जाय।"

इसके बावजूद ऐसे बयान मात्र भावोद्रेक अथवा छिटपुट वक्तव्य ही रहे और किसी कार्यव्यापार में प्रतिफलित न हो सके। इसमें कोई अचरज नहीं, क्योंकि समस्या की जड़ें कहीं गहरी हैं और वह ऐसे किसी हल को नहीं मानतीं, जिनमें केवल प्रसाधनिक परिवर्तन किए जाते हैं। इस समस्या को हल करने के लिए हमें स्वास्थ्य परिचर्या के अपने समग्र दृष्टिकोण की जांच करनी होगी और उन ऐतिहासिक शक्तियों को समझना होगा, जिन्होंने अंग्रेजों के आने से लेकर अब तक के दो सौ वर्षों में इसके विकास का संचालन किया। यह समस्या अकेले भारत की नहीं है। अनेक अन्य गैर-पश्चिमी देश, विशेष रुप से वे, जिनके यहां यूरोप के आधिपत्य का इतिहास मिलता है, इस समस्या से ग्रस्त हैं। फिर भी दिलचस्प बात यह है कि कुछ ऐसे देश भी है, जहां की राष्ट्रीय स्वास्थ्य परिचर्या में उनकी अपनी पारंपरिक पद्धतियों को शामिल करने के ठोस प्रयास हुए हैं। संप्रति एक ऐसा बड़ा प्रयास चीन में चल रहा है।

चीन मार्गदर्शक बना

पीपुल्स रिपब्लिक आफ चाइना के जन स्वास्थ्य मंत्रालय के भूतपूर्व अध्यक्ष के [२] शब्दों में-

"पारंपरिक चीनी चिकित्सा एवं भेषजगुणविज्ञान का विकास हजारों वर्षों

के दौरान हुआ है और इसमें तिब्बती, मंगोली, वाइजर, युस, और डायस आदि अल्पसंख्यकों का चिकित्सा-ज्ञान संमिलित है। आधुनिक चीन की प्रतिष्ठा के बाद केंद्रीय कम्युनिस्ट पार्टी ने पारंपरिक चीनी चिकित्सा की श्रेष्ठता की पुष्टि की और पारंपरिक तथा पाश्चात्य चिकित्सा-व्यवसाय में प्रशिक्षित व्यावसायिकों के बीच एकता की नीति सूत्रबद्ध की। व्यक्तिगत रुप से व्यवसाय में रत पारंपरिक अभ्यासियों को संगठित करके आतुरालयों में नियुक्तियां दे दी गयी हैं, और उन्हें पाश्चात्य चिकित्सा कर्मियों के बराबर की हैसियत दी गयी हैं। पाश्चात्य चिकित्सा पंडितों को पारंपरिक तकनीक और पारंपरिक चिकित्सा-कर्मियों को पाश्चात्य तकनीक सीखने के लिए प्रोत्साहित किया गया। पाश्चात्य शैली के आतुरालयों में पारंपरिक चिकित्सा विभाग खुल गये और पूर्णतः पारंपरिक चिकित्सा आतुरालय भी खुल गये। आधुनिक वैज्ञानिक विधियों से पारंपरिक चिकित्सा और भेषजगुणविज्ञान का व्यवस्थित अध्ययन किया गया। उन वृद्ध अभ्यासियों के चरण-चिन्हों पर चलने के लिए, जिन्होंने अपने क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किये हों, युवा और प्रौढ़ अभ्यासियों को चुना गया है, भले ही उन्हें पहले कभी प्रारंपरिक प्रशिक्षण न मिला हो। उद्देश्य यह है कि उन क्षेत्रों में प्रगति हो।"

पारंपरिक चीनी तथा पाश्चात्य चिकित्सा उपचार के इस नये मेल से सामान्य एवं गंभीर दोनों प्रकार की व्याधियों की चिकित्सा और रोकथाम में सुधार हुआ है। जिन पेट की बीमारियों में पहले शल्य-क्रिया करनी पड़ती थी अब बगैर शल्यक्रिया के ही चिकित्सा कर ली जाती है। उदाहरणार्थ, १९५८ से अब तक (गाइजू प्रांत के जुनाई मेडिकल कालेज में और लायोविंग प्रांत के डेलियन मेडिकल कालेज में तीव्र एपेंडिसाइटिस और तीव्र पैंक्रियाटाइटिस के कुल-११७२२ मरीजों पर पारंपरिक चीनी तथा पाश्चात्य चिकित्सा विधि के योग का प्रयोग किया गया और उसमें ९२.७ प्रतिशत रोगी रोगमुक्त हुए। हडिडयों तथा जोड़ों की चोट और अस्थिभंग के इस शैली के इलाज से आघात विकलांग विज्ञान नामक चिकित्सा की एक नयी शाखा स्थापित हो गयी है। तियान जियू अस्पताल के विकलांग विज्ञान विभाग ने अस्थिभंग की चिकित्सा की एक विधि ईजाद की है, जो एक लाख रोगियों पर आजमाई जाकर अपना महत्व सिद्ध कर चुकी है।

सूचीवेध द्वारा संज्ञाहरण चीन की देन है और यह पारंपरिक चीनी तथा

पाश्चात्य चिकित्सा के मेल की महत्वपूर्ण उपलब्धि है.....कपालीय, ग्रैव, वक्षीय तथा उदर शल्यक्रियाओं में इसका व्यापक उपयोग किया गया है। हृदय की जटिल शल्यक्रिया में और कटे हुए अंगों के पुनःरोपण में भी इसका प्रयोग सफल रहा है।

क्या भारतीय चिकित्सा पद्धतियों के दिन लद गये ?

यह मानने के लिए एक भी कारण नहीं है, कि आज भा.चि.प. पिछड़ कर अप्रासंगिक हो गयी हैं [३]।

अभी हाल तक ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं रही है, जिनसे यह सिद्ध होता है, कि आयुर्वेद के अभ्यासी निदान व उपचार के अपने उन मौलिक सिद्धांतों के प्रयोग से, जो सदियों से उनके काम आती रही हैं, नई बीमारियों तक की चिकित्सा सफलतापूर्वक कर सकते हैं। कुछ दशाब्दियों पहले, जब भारत में प्लेग और इनफ्लुएंज़ा जैसी महामारियों का प्रकोप फैला, उस समय तत्कालीन वैद्य त्रिदोषीय भेषजगुणविज्ञान और चिकित्साशास्त्र के आधार पर ऐसी नई औषध योजना पेश कर सके, जो तत्कालीन अन्य विधाओं द्वारा प्रस्तुत औषधों से घटकर तो नहीं ही थी। स्वर्गीय वैद्यरत्न पंडित डी. गोपालाचार्लु द्वारा निर्मित *'हैमादिपानकम्' और 'शतधौतघृतम'* का प्रयोग और तो और, ऐलोपैथीवाले तक करते थे। इन्फ्लुएंज़ा के लिए बनायी गयी उनकी 'चरकवटी' का भी यही रंग रहा। उन्होंने नई बीमारियों के लिए नई औषधयोजनाओं और उपचार की नई विधियों का मात्र आविष्कार ही नहीं किया। उन्होंने हमेशा महसूस किया कि देशभेद और कालभेद से और व्यक्ति-व्यक्ति की बदलती परिस्थितियों और सामाजिक तथा अन्य पर्यावरणों के बदलाव के साथ-साथ, पुरानी से पुरानी व्याधियां भी अपना स्वरूप बदल देती हैं। और वे इन सभी घटकों का, जब और जैसे वे घटित होते हैं, बराबर उचित ध्यान रखते हैं और तदनुसार परिवर्तनशील और परिवर्तित स्थितियों में वे उचित रुप से आहार और औषध को समायोजित करते आये हैं।

इसी प्रकार ऐसे वैद्य भी हैं, जिन्होंने आयुर्वेदीय सिद्धांतों से नये द्रव्यों का विश्लेषण कर दिखाया है। उदाहरणार्थ, जो द्रव्य भारत में अपेक्षाकृत नये हैं और जिनका वर्णन प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथों में नहीं हैं, उन द्रव्यों को आधुनिक काल में आयुर्वेदीय सिद्धांतों के आधार पर विश्लेषित किया गया है और समझा गया है।

इस विधि से तंबाकू और कस्टर्ड तक को द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक आदि दृष्टिकोण से जांचा गया हैं।

संवाद की आवश्यकता

अनेक क्षेत्रों में भा.चि.प. तथा आधुनिक चिकित्सा के अभ्यासियों के बीच गंभीर संवाद प्रारंभ करने की महती आवश्यकता है। आधुनिक चिकित्सा व्यवसाय की उत्कट पश्चिमाभिमुखता एक बड़ी गंभीर समस्या रही है, जिसके चलते ऐसे संवाद अत्यंत कठिन हो जाते हैं। ऐसे परस्पर आदान-प्रदान से देश का सचमुच लाभ होगा, साथ ही उन क्षेत्रों में, जहां इन दो विज्ञानों में मतभेद हो सकते हैं, मतभेद दूर होकर तत्वबोध हो सकता हैं।

मतभेद का एक दृष्टांत नवजात शिशु को जन्म के बाद शुरू के एक दो दिनों तक मां का दूध (कोलोस्ट्रम) पिलाना या न पिलाना है।

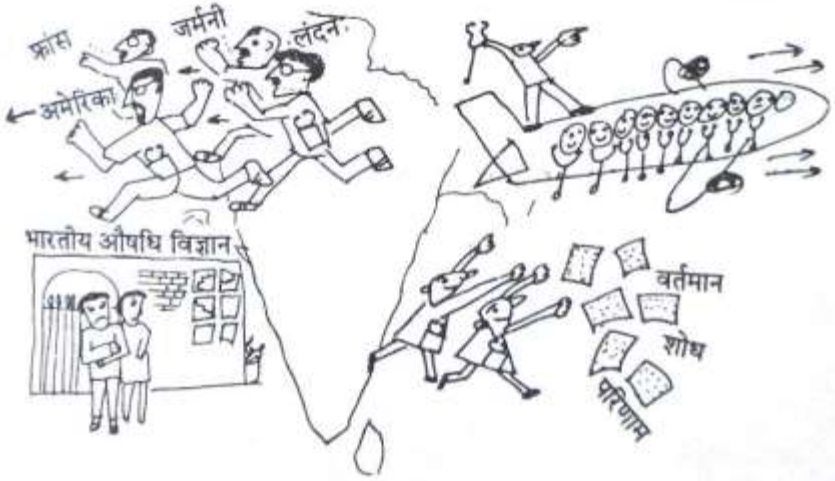

इंडियन काउंसिल आफ मेडिकल रिसर्च की ताजा रिपोर्ट के अनुसार [६] जनजाति क्षेत्रों की अधिकांश स्त्रियां अपने बच्चों को कोलोस्ट्रम (पीयूष) नहीं देतीं। रिपोर्ट के अनुसार, ऐसी स्त्रियों के विचार में कोलोस्ट्रम अशुद्ध और बच्चे के लिए हितकर नहीं हैं।

आधुनिक चिकित्सा व्यवसायियों के अनुसार, कोलोस्ट्रम नवजात शिशु को रोगप्रतिरोध की क्षमता प्रदान करने के लिए अत्यावश्यक है। फिर भी, आयुर्वेद के अभ्यासियों के अनुसार, कोलोस्ट्रम से बच्चों को बचाने की आदत निर्दोष है, क्योंकि आयुर्वेद प्रारंभ के दो-एक दिन के दूध को अशुद्ध और अनेक अन्य दूषणों से युक्त मानता है। ऐसे प्रश्नों पर किसी निर्णय पर आने से पहले भलीभांति चर्चा हो लेने की आवश्यकता है।

करना क्या होगा ?

स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं को सुदृढ़ और आज के स्वास्थ्य परिचर्या तंत्र में सार्थक भूमिका निभा सकने योग्य बनाने के लिए तत्काल कतिपय महत्वपूर्ण कदम उठाने होंगे। हमने नीचे कुछ कदमों को रेखांकित किया है:

संसाधन आधार पर दृढ़ीकरण

स्थानीय स्वास्थ्य परंपराएं बहुत कुछ स्थानीय पेड़-पौधों पर निर्भर करती हैं और ये ही महत्वपूर्ण संसाधन आधार हैं। जंगलों की बढ़ती हुई कटाई के साथ-साथ वनभूमि पर स्थानीय नियंत्रण की समाप्ति से और वनों के आर्थिक दोहन से यह संसाधन आधार आज गहरे संकट में फंस गया है। हमें तत्काल ऐसे कदम उठाने होंगे, जिनसे वन-संसाधनों की सुरक्षा और स्थानीय उपयोग के लिए उसकी उपलब्धता सुरक्षित हो सके।

संसाधनों से तात्पर्य केवल पेड़-पौधों और प्राणियों से अवश्य ही नहीं है और मानवीय संसाधन तथा पाठ्यग्रंथों आदि के रुप में ज्ञान-आधार उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है।

संसाधन सामग्री

भारतीय चिकित्सा पद्धतियों के विषय में ज्ञात, कथित एवं लिखित सारी जानकारी संभवतः इस क्षेत्र में दबी पड़ी हुई अपार अंतःशक्ति की सतह को खुरचने भर से प्राप्त हुई है। उदाहरण के लिए, अकेली संस्कृत भाषा की पांडुलिपियों की संख्या एक से तीन करोड़ के बीच आंकी गयी है। चिकित्सा विषयक पांडुलिपियों की संख्या निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, मगर अनेक संकेतों से उनकी संख्या बहुत अधिक मालूम होती है। तंजावूर के तमिल विश्वविद्यालय ने सभी सार्वजनिक पुस्तकालयों और संग्रहालयों में उपलब्ध तमिल पांडुलिपियों की एक सूची बनायी है। उसमें २४००० पांडुलिपियों के नाम हैं, जिनमें ४००० से अधिक चिकित्सा-विज्ञान से संबंधित हैं। इनमें से ज्यादातर अप्रकाशित हैं। पुस्तकालयों में पायी जा सकनेवाली संस्कृत और अन्य भाषाओं की पांडुलिपियों की संख्या का एक अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है। इनके अतिरिक्त असंख्य पांडुलिपियां सामान्यजनों और वैद्यों के घर-परिवार में पड़ी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि व्यवस्थित रूप से सारी सूचनाएं एकत्र करके इनके संपादन और प्रकाशन की योजना का सूत्रपात किया जाय।

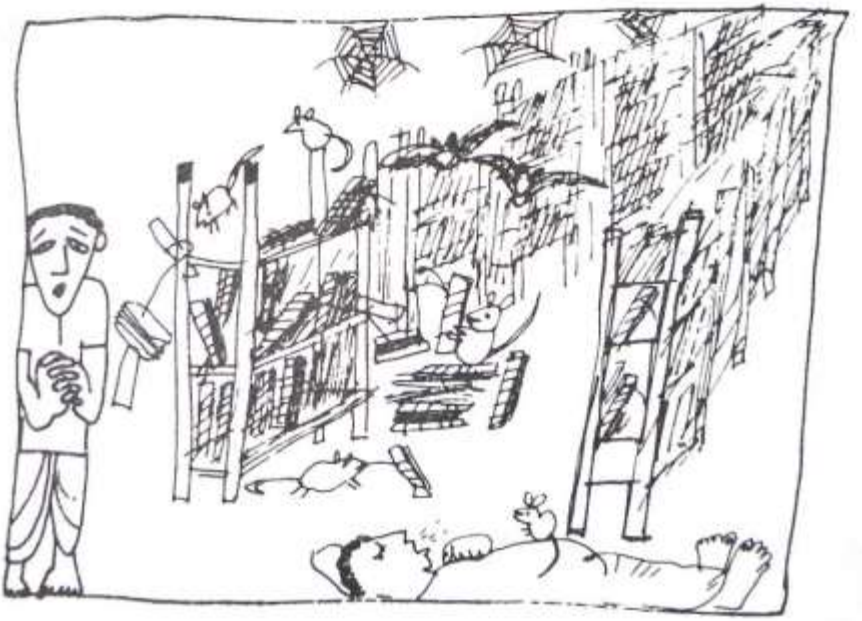

हमारे मानवीय संसाधन

हमारे देश के उन करोड़ों स्त्री-पुरुषों को, जो अनेक गंभीर बाधाओं के बावजूद स्थानीय स्वास्थ्य परिचर्या प्रबंध में लगे हैं, राष्ट्रीय स्वास्थ्य परिचर्या योजना में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना ही होगा। स्थानीय स्वास्थ्य परंपराओं को पुनरुज्जीवित करने के लिए ठोस प्रयास करने की जरुरत है। स्वयंसेवी क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयास प्रारंभ तो किये गये हैं, परंतु सरकारी माध्यमों का इसमें सक्रिय सहयोग अपेक्षित है।*

एक नया दृष्टिकोण

उपर्युक्त निवेशों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है देसी चिकित्सा पद्धतियों के प्रति नया दृष्टिकोण। वस्तुतः ऐसा दृष्टिकोण ज्ञान की सभी देसी पद्धतियों के प्रति अपेक्षित है। आधुनिक विज्ञान और प्रविधि के विकास और विश्वव्यापी उपनिवेशवाद के प्रारंभ के साथ ही सभी गैर-पाश्चात्य संस्कृतियों को जीवनक्षम विज्ञान और प्रविधि से रहित मानकर खारिज कर दिया गया। इसके बावजूद आधुनिक विज्ञान और प्रविधि जबकि अल्पसंख्यकों तक ही सीमित है, दूसरी ओर हमारी विशाल जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग अब भी देसी परंपराओं के द्रव्यों और बौद्धिक पोषण पर आधारित है। आज विकल्पों की खोज हो रही है। इस खोज के अंग के रूप में विज्ञान और प्रविधि की देसी परंपराओं का अच्छी तरह मूल्यांकन किया जाना चाहिए। यह पुनर्मूल्यांकन पूर्वाग्रहों और पाश्चात्य श्रेष्ठता की प्राक्कल्पनाओं से, जिन्होंने हमारी दृष्टि धूमिल कर रखी है, मुक्त होना चाहिए। हमें आशा है कि इससे वैकल्पिक विज्ञान और प्रविधि का विकास होगा, जो मानवीयतर मूल्यों पर आधारित होगा और हमें एक बेहतर, आत्मनिर्भर तथा शोषणरहित विज्ञान और प्रविधि की ओर ले जायगा।

** लोक स्वास्थ्य परंपरा संवर्धन समिति की योजनाओं का विवरण पाठक कृपया इस पुस्तक के आरंभ में देखें।*

प्राविधिक शब्द-संग्रह

अग्नि-सादन	क्षुधाशामक
अम्ल	खट्टा
अनुलोमन	वायुहर, पोषणनाल से गैस निष्कासित करनेवाला
अंगमर्द प्रशमन	बदनदर्द दूर करनेवाला
बल्य	शक्तिवर्धक
बृंहण	पुष्टिवर्धक
चक्षुष्य	दृष्टिवर्धक, आंखों के लिए हितकर
छर्दिनिग्रहण	वमनरोधी
दाहप्रशमन	तापहर, जलन की अनुभूति मिटानेवाला
दीपन	क्षुधावर्धक, भूख बढ़ाने वाला
द्रव	तरल, बहनेवाली
गुरु	भारी
हृद्य	हृदय को बल देनेवाली
जीवनीय	जीवनशक्ति देनेवाला
ज्वरघ्न	ज्वरहर
कासहर	श्वसनी-शामक
कण्डूघ्न	खुजली दूर करनेवाली
कषाय	कसैला स्वाद

कठिन	कड़ा
कटु	गरम / तीखा स्वाद
खर	रूखा
क्रिमिघ्न	क्रिमिनाशक
लघु	हल्का
लंघन	उपवास
लवण	नमक
मधुर	मीठा
मंद	धीमा। धीमी क्रियावाला
मेध्य	बुद्धिवर्धक और मानसिक रोगों में हितकर
मृदु	नरम
पाचन	हाजमा सुधारनेवाला
पिच्छिल	चिपचिपा
रसायन	नवजीवनदायक
रूक्ष	खुरदरा
रूक्षण	खुरदरा बनाना
सांद्र	लसदार
संज्ञास्थापन	होश में लानेवाला
संग्रहणीय	ग्राही, कब्ज पैदा करनेवाला
सर	गतिशील
शीत	ठंडा
शोथ प्रशमन	आमाशयी ऐंठन दूर करनेवाला
शोथहर	सूजन में हितकर, सूजन मिटानेवाला
शोणितास्थापन	रक्तस्तंभक
श्लक्ष्ण	कोमल
स्नेहन	चिकनानेवाला
स्निग्ध	चिकना
सूक्ष्म	बारीक

स्थिर	गतिहीन
स्थूल	बड़ा
स्वेदन	पसीना बढ़ानेवाला
तीक्ष्ण	तेज
तिक्त	कड़वा
तृष्णा निग्रहण	प्यास का शमन करनेवाला
उष्ण	गरम
वाजीकरण	कामोद्दीपक
वमन	उल्टी करानेवाला
वर्ण्य	रंगत सुधारनेवाला
वेदनास्थापन	पीड़ा निवारक
विदाही	आमाशय क्षोभक
विरेचन	जुलाब की दवा
विशद	स्पष्ट
विषघ्न	विष नाशक
विष्टंभी	गैस को निकलने से रोकनेवाला
व्यवायी	आशुकारी, शीघ्र फैलनेवाला

आयुर्वेद के आकर ग्रंथ

आयुर्वेद के प्रमुख आकर ग्रंथ बृहत्त्रयी और लघुत्रयी नाम से दो भागों में विभाजित किये गये हैं। चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता और अष्टांगहृदय, इन तीन ग्रंथों के समूह को बृहत्त्रयी तथा भावप्रकाश, माधव-निदान और शार्ङ्धर संहिता के समूह को लघुत्रयी नाम दिया गया है।

चरकसंहिता

यह मूलतः पुनर्वसु आत्रेय के छह शिष्यों में अन्यतम अग्निवेश द्वारा रचित है। बाद में चरक ने इसका संपादित रूप तैयार किया। आज यह ग्रंथ जिस रूप में उपलब्ध है, वह दृढ़बल का दिया हुआ है, जिन्होंने इसका संपादन किया और कुछ नवीन अध्याय भी जोड़े। इसमें १२० अध्याय हैं, जो आठ स्थानों या खंडों-सूत्र, विज्ञान, विमान, शरीर, इन्द्रिय, चिकित्सा, कल्प और सिद्धि में विभाजित हैं।

सुश्रुतसंहिता

यह धन्वन्तरि के शिष्य सुश्रुताचार्य की रचना है। सुश्रुत शल्य संप्रदाय के अनुयायी थे। इस ग्रंथ में मानव शरीर रचना का सूक्ष्म विवरण और शल्य का विशद विवेचन है। यह आज नागार्जुन द्वारा संपादित रूप में उपलब्ध है। कुछ विद्वानों के अनुसार सुश्रुत नाम के दो आचार्य हुए हैं, सुश्रुत और वृद्ध सुश्रुत। तदनुसार सुश्रुत ने केवल उत्तरतंत्र लिखा और शेष समग्र ग्रंथ वृद्ध सुश्रुत ने लिखा। सुश्रुत ने छात्रों को शल्य का प्रशिक्षण देने की विधि बतायी है।

अष्टांगहृदय

चरक और सुश्रुत संहिताओं की अपेक्षा अष्टांगहृदयम् परवर्ती रचना है। इसके लेखक वाग्भट्ट थे। इन्होंने चरक और सुश्रुत का सूक्ष्म अध्ययन करके पहले

अष्टांगसंग्रह नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें गद्य और पद्य दोनों हैं। बाद में इन्होंने इसे संक्षिप्त करते हुए पूरे ग्रंथ को छंदोबद्ध करके उसे अष्टांगहृदयम् नाम दिया। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वाग्भट्ट दो हुए हैं, वाग्भट्ट और वृद्ध। अष्टांगसंग्रह की रचना वृद्ध वाग्भट्ट ने की और उसका संक्षिप्त रूप अष्टांगहृदयम् वाग्भट्ट की मानते हैं। वाग्भट्ट (अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदयम् दोनों के लेखकों) ने पुस्तक को अत्यंत व्यवस्थित रूप दिया है और उनका सूत्रस्थान श्रेष्ठ माना जाता है।

भावप्रकाश

इसके लेखक भावमिश्र या भावनाथ मिश्र हैं। ये जन्म से बंगाली थे और इनका जन्म बंगाल में बारेसाल में हुआ था। भावप्रकाश अष्टांग आयुर्वेद (आयुर्वेद के आठों अंगों) की पुस्तक है, जिसमें द्रव्यगुण पर विशेष जोर दिया गया है। ग्रंथ-लेखन का आरंभ वंगसेन नामक एक अन्य बंगाली विद्वान ने किया था, पर ग्रंथ पूरा करने से पहले वे स्वर्ग सिधार गये। बाद में भावप्रकाश ने इस अधूरे ग्रंथ को पूरा किया और भावप्रकाशनिघंटु नाम दिया। यह आयुर्वेदीय द्रव्यगुण का मानक ग्रंथ है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें पुदीना, अरण्यहरिद्रा और आलू जैसे द्रव्यों का भी समावेश है। इसमें उन्होने फिरंग रोग (सिफलिस) तक का समावेश कर दिया है। ये अकबर के राजवैद्य रह चुके थे और इन्होंने अपने ग्रंथ में पहली बार यूनानी औषधों को भी प्रस्तुत किया।

माधवनिदान

जैसा कि ग्रंथनाम से स्पष्ट है, माधवकर की यह रचना पूर्णतया निदान (डायग्नोसिस) विषय पर लिखी गयी है। ये भी बंगाली थे। ग्रंथ का नाम पहले रोगविनिश्चय था। कहा गया है, *'निदाने माधवः श्रेष्ठः'* इसमें वातव्याधि, सूतिका रोग तथा स्तनरोग आदि स्त्री रोगों की भी व्याख्या है।

शार्ङ्ग धर संहिता

शार्ङ्ग धर द्वारा रचित। इसमें रसशास्त्र और औषधिनिर्माण का वर्णन है। इनका समय अनिर्णीत है। नाड़ी परीक्षा का उल्लेख आयुर्वेद में पहली बार इन्होंने ही किया। इन्होंने औषधिनिर्माण प्रक्रिया अर्थात् भैषज्यकल्पना-कषाय, स्वरस, हिम, फांट, लेह, रसक्रिया आदि का सूक्ष्म विवेचन किया है।

संदर्भ सूची

अध्याय २

१. पीपीएसटी फाउंडेशन, मद्रास द्वारा चेंगलपेट और विल्लुपुरम् जिलों में "मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य" विषयक पारंपरिक रूढियों का १९८८ में कराया गया सर्वेक्षण।

२. तमिलनाडु के कोयंबटूर जिले की आनै कट्टी पहाड़ियों के दूरस्थ गांवों, धूमानूर और चेंपुकरई में प्रचलित कुछ लोकोपधियां–लेखक, के.के. लक्ष्मणन तथा ए.एस. शंकरनारायण, इंडियन जर्नल ऑफ फॉरेस्ट्री, वॉल्यूम ११ (३) (१९८८) २१७–२१९ में प्रकाशित।

३. ट्रेडीशनल हीलर्स इन कम्युनिटी हेल्थ– के.पी. शुक्ल (गोमती कृष्णा पब्लिकेशन्स, वाराणसी) १९८१।

४. एथ्नो बायोलॉजिकल ट्रीटमेंट ऑफ पाइल्स बाइ भोक्साज ऑफ उत्तर प्रदेश–हरीश सिंह, एंशिएंट सायन्स आफ लाइफ, वॉल्यूम ८, अंक २, (अक्टूबर १९८८) १६७–१७०।

५. दाईज– दि ट्रेडीशनल बर्थ अटेंडेंट्स इन विलेज इंडिया–डी.एन. कक्कड़ (न्यू एशियन पब्लिशर्स, नई दिल्ली) १९८०।

६. फोक ऐंड मॉडर्न मेडिसिन–डी.एन. कक्कड़ (न्यू एशियन पब्लिशर्स, नई दिल्ली) १९८४ पुनर्मुद्रण।

७. ए सर्वे आफ न्यूट्रिशन हैबिट्स आफ एल्डर्ली पर्सन्ज इन दि मद्रास स्टेट इन १९६५–६७–डा. ए. ल क्ष्मीपति रिसर्च यूनिट, नागार्जुन, खंड १२, अंक ८ (अप्रैल १९६९) पृ. ३५–५२।

८. योग ऐंड नैचुरोपैथी इन आज्मा–डा. कुसुम (जुलाई १२–१४, १९८७ को हरिद्वार में संपन्न परंपरागत चिकित्सा पद्धतियों पर संपन्न बैठक की कार्यवाही) (वालंटरी हेल्थ ऐसोसिएशन आफ इंडिया, नई दिल्ली) (१९८७)।

९. टीचिंग योगासन टु द मेंटली–रिटार्डेड (कृष्णामाचार्य योग मंदिरम् मद्रास) १९८३।

१०. पोटेंट पैनेशिया ?– जी.एस. रेडडी, इलस्ट्रेटेड वीक्ली आफ इंडिया, जुलाइ २८, १९८५ पृ. ५५।
११. छोटा नागपुर के क्षेत्रों के संदर्भ में सांप और हमारा जीवन–राकेश पोपली तथा अशोक सिनहा (विकास भारती, बिशुनपुर)१९८७ ।
१२. दि ब्यूटीफुल ट्री : इंडिजेनस इंडियन एजुकेशन इन दि एटीन्थ सेंचुरी–धर्मपाल (बिब्लिया इंपेक्स लि., नयी दिल्ली) १९८३ ।
१३. इंडियन साइन्स ऐंड टेक्नॉलॉजी इन दि ऐटीन्थ सेंचुरी : सम कंटेंपररी –यूरोपियन ऐकाउंट्स–धर्मपाल (ऐकाडमी आफ गांधियन स्टडीज, हैदराबाद) १९८३ पुनर्मुद्रण।
१४. आस्पेक्ट्स आफ सीजेरियन सेक्शन इन इंडिया–एच. आइ. पोलमैन तथा पी. क्यू. रोश, जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी खंड ५९ (१), पृ. १७–२१।
१५. दि इंपैक्ट आफ इंडियन मैथड्स आफ टोटल नैजल रिकंस्ट्रक्शन–सी.एस. निचटर, आर. एफ. मुरुगानंद एम. ए., निचटर क्लिनिक्स इन प्लास्टिक सर्जरी, खंड १०, संख्या ४ (अक्टूबर १९८३) ६३५–६४७।

अध्याय तीन

१. न्यूट्रिशन, खंड १७ अंक (४) (अक्टूबर १९८३) पृ. २९ (पाठकों के प्रश्न)।
२. सायंस इन ट्रैडीशनल चाइना : ए कंपेरेटिव पर्सपेक्टिव –जोसेफ नीडहैम (चाइनीज यूनिवर्सिटी, हांगकांग) १९८१
३. दि सायंस ऐंड दि आर्ट आफ इंडियन मेडिसिन–जी. श्रीनिवासमूर्ति (थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, मद्रास) १९८६ पुनर्मुद्रण।
४. इंपैक्ट आफ माडर्नाइजेशन आन मिल्क ऐंड आयल सीड्स : पार्ट २, चेंजेस इन एग्रिकल्चर ऐंड इकानामी आफ आयल सीड्स–जे.के. बजाज, समीर शाह तथा एच.एस. शंकर, पीपीएसटी बुलेटिन सं.।। (१९८७) २०–४४
५. दि इंडियन एप्रोच टु फार्मल लाजिक ऐंड मैथडोलाजी आफ थियरी कन्सट्रक्शन : ए प्रिलिमिनरी व्यू–एम.डी. श्रीनिवास, पीपीएसटी बुलेटिन सं. ९ (१९८६) पृ. ३२–५९।

६. एंशियंट इंडियन मेडिसिन : दि प्राब्लम आफ ऐन अनबायस्ड पर्सपेक्टिव-जे.के. बजाज, पीपीएसटी बुलेटिन, खंड १, अंक २ (१९८१) पृ. २५-३७।

अध्याय चार

१. मैनुअल फार प्रैक्टीशनर्स आफ इंडियन सिस्टम्स आफ मेडिसिन ऐंड होमियोपैथी (स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय) १९८३।

२. हेल्थ केयर इन चाइना : ए यूनीक पार्टनरशिप बिट्वीन एंशिएंट ऐंड माडर्न मेडिसिन-चेन हायफैंग एवं शेन चेयर्न, इंपैक्ट आफ सायंस आन सोसाइटी अंक १४३ (१९८६)।

३. दि सायंस ऐंड आर्ट आफ इंडियन मेडिसिन-जी. श्रीनिवासमूर्ति (थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, मद्रास) १९८६ पुनर्मुद्रण।

४. तम्बाकू : आयुर्वेदीय अध्ययन-वैद्य रमेश म. नानल, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद महासंमेलन पत्रिका, फरवरी १९८८, पृ. २७-२९, मार्च १९८८, पृ. १२-१४ तथा अप्रैल १९८८ पृ. १४-१६।

५. कस्टर्ड : आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से गुणकर्मादि का निश्चय-वैद्य रमेश म. नानल, आयुर्वेद महासंमेलन पत्रिका, फरवरी १९८९ पृ. १७-१९।

६. एनुअल रिपोर्ट आफ दि डायरेक्टर जनरल-इंडियन काउंसिल आफ मेडिकल रिसर्च १९८६-८७ (इंडियन काउंसिल आफ मेडिकल रिसर्च, नई दिल्ली)।

जीवनीय

स्वास्थ्य एवं पत्रिका

Keep Healthy
in All Seasons

Read Jeevaniya

Jeevaniya, E III/250, Sector H
Aliganj, Lucknow - 226020